अन्वेषण (ढूंढ़ने) में तत्पर गईं और रसासक्ति, हरिक्रिया, गर्वाभाव इन तीनों के द्वारा रस को अन्तर्गत करती हुईं।

भगवान में पूर्व अध्याय में आन्तरलीला की और गोपियों ने भगवान् का बाहिर तिरोधान होने के कारण इस सत्ताइसवें अध्याय में आन्तरलीला की, इसका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(सुबो०) पूर्वाध्यायान्ते भगवतस्तिरोभाव उक्तः, ततस्तदनन्तरं प्रथमतः तासां रसासक्तचित्तानामापाततो महांस्तापो जात इत्याह–अन्तर्हिते भगवतीति।

पहिले अध्याय के अन्त में भगवान का तिरोधान कहा। भगवान के तिरोधान के अनन्तर रसमें आसक्त चित्तवाली गोपियों को प्रथम सर्वाङ्ग में महान् ताप उत्पन्न हुआ, इस बात को शुकदेवजी आगे श्लोक में कहते हैं।

श्रीशुक उवाच—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

पदपदार्थ—(अन्तर्हिते) अन्तर्धान (भगवति) भगवान कि होने पर (सहसैव) अकस्मात् ही (व्रजाङ्गनाः) व्रज की स्त्रियां। (तं) भगवान् को (अचक्षाणाः) नहीं देखतीं (अतप्यन्) ताप करने लगीं (यूथपम्) यूथस्वामी (तं) हाथी को (अचक्षाणाः) नहीं देखतीं (करिण्य इव) हथिनियों की तरह।

भाषार्थ—भगवान् के अन्तर्धान होने पर अकस्मात् व्रजाङ्गना हथिनियां जिस प्रकार यूथस्वामी हाथी को न देखकर ताप करती हैं, उस प्रकार भगवान् को न देखकर ताप करने लगीं।

(सुबो०) भगवति अन्तःप्रविष्टे षड्गुणैश्वर्यसहिते यावदन्तरनुसन्धानं न कृतवत्यः, तावत् सहसैव अकस्मादतप्यन्। अन्तर्विचाराभावे हेतुः व्रजाङ्गना इति। तापे हेतुः तमचक्षाणा इति। तापः सहज एव स्थितः कामात्मा तद्दर्शनस्पर्शादिभिः शान्तो भवति। यदा पुनः पूर्वसिद्धं बहिर्दर्शनं न जातम्, तदा तत्ताप उचित एव। तासां स्पर्श एव मुख्य इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह—करिण्य इवेति। यूथपो महामत्तगजः। 'रतिं गज एव जानाती'ति वात्स्यायनः। 'रत्यां विमर्दे गज' इति विवृतश्च। सन्ति च सिंहाः, तथात्र कालः। अतः करिणीनां यूथपादर्शने महानेव क्लेशः।

ऐश्वर्यादि छः गुण सहित भगवान् गोपियों के भीतर प्रविष्ट हुए। जब तक गोपियों ने भीतर हृदय में अनुसन्धान नहीं किया, तबतक अकस्मात् एकाएक ताप करने लगीं।

यदि कहो कि गोपियों ने भीतर विचार क्यों नहीं किया। तब इसके उत्तर में कहते हैं कि (व्रजाङ्गनाः) गोपियां व्रज की स्त्रियां हैं। अर्थात् व्रज की स्त्रियां भगवान का बाहिर प्रकटस्वरूप ही मुख्य मानती हैं, भीतर विचार नहीं है।

यदि भीतर विचार करतीं तो ताप वर्धित नहीं होता।

ताप में हेतु कहते हैं, 'तमचक्षाणाः' भगवान को नहीं देखती हुईं।

गोपियों में कामरूपी ताप सहज ही स्थित है, और यह कामात्मा भगवान् का दर्शन-स्पर्श आदि लीला से शान्त होता है। प्रथम जिस प्रकार बाहर भगवान् का दर्शन गोपियों को होता था, वह जिस समय फिर नहीं हुआ, उस समय गोपियों को ताप होना उचित ही है।

गोपियों को स्पर्श ही मुख्य है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये यहां दृष्टान्त देते हैं, (करिण्य इव) हथिनियों की तरह।

यूथप महामत्त गज को कहते हैं। वात्स्यायनऋषि कहते हैं कि रति को तो हाथी ही जानता है, रति-समय विमर्द में हाथी ही समर्थ है, इस प्रकार सूत्र का विवरण किया है। वन में सिंह बहुत से होते हैं, इसलिये हाथी को न देखकर इकली हथिनियां सिंह के भय से भीत होती हैं।

उसी प्रकार यहां भगवान् को न देखकर अकेली रह गयीं गोपियां भगवान् के अवतार का समाप्ति काल जानकर भयभीत होती हैं। अतः जिस प्रकार हथिनियों को यूथप गज के अदर्शन में महान् ही क्लेश होता है, उसी प्रकार भगवान् के अदर्शन में गोपियों को महान् क्लेश हुआ ॥ १ ॥

(सुबो०) यदा पुनः स तापः अन्तः प्रवेष्टुमैच्छत, तावता भगवल्लीला अन्तःप्रविष्टा तापं दूरीकृत्य स्वयमेवाविर्भूतेत्याह–गत्येति।

जिस समय फिर उस ताप ने गोपियों के भीतर प्रवेश करने की इच्छा की, इतने ही में भगवान के साथ भीतर प्रविष्ट हुई भगवल्लीला गोपियों का ताप दूर करके स्वयं ही प्रकट हो गई।

ताप भगवद्रूप होने से सच्चिदानन्दरूप है, अतः चेतन-धर्म सम्भव होता है।

जिस प्रकार सूर्योदय से पहले प्रभानुभाव से तमकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार गोपियों की तापनिवृत्ति हो गई। अर्थात् बाहर के ताप को दूर कर लीला बाहर भी स्वयं प्रकट हुई, इससे बाहर का ताप भी शान्त हो गया। इस बात को सूचन करनेके लिये मूल में 'दूरीकृत्य आविर्भूता' कहा है। उक्त भाव को शुकदेवजी 'गत्यानुराग' इत्यादि से आगे कहते हैं।

गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः॥२॥

पदपदार्थ—(गत्या) गति द्वारा (अनुरागस्मितविभ्रमेक्षितैः) अनुरागपूर्वक स्मित सहित विलास-कटाक्षों से (मनोरमालापविहारविभ्रमैः) मन को रमण करानेवाले, अथवा मन में रमण करनेवाले भगवान् के गुप्त भाषण-विलासों से (आक्षिप्तचित्ताः) आकर्षित चित्तवाली (तदात्मिकाः) भगवदात्मकवालीं (प्रमदाः) प्रकृष्ट मदवाली गोपियां (रमापतेः) लक्ष्मी पतिकी (तास्ताः) काय-वाङ्-मन से की हुईं (विचेष्टाः) विलासरूप लीलाओं को (जगृहुः) ग्रहण करती हुईं ॥ २ ॥

भाषार्थ—भगवान की कायिक गति, स्नेहपूर्वक स्मित और विलासयुक्त कटाक्षों द्वारा तथा भगवान मनोरम आलाप-गुप्त भाषण विहार-विलासों द्वारा आक्षिप्त-आकर्षित चित्तवालीं तथा भगवान आत्मा में जिनके इस प्रकार की प्रकृष्ट मदवालीं गोपियां लक्ष्मीपति की काय-वाङ्-मन से की हुई लीलाओं का ग्रहण करती हुईं ॥ २ ॥

(सुबो०) ता भगवदीयैः कायवाङ्मनोभिः वशीकृताः तद्भावमापन्नाः तास्ता एव भगवच्चेष्टा जगृहुः । प्रथमतः कायिकीमाह । गत्या कामचेष्टया वशीकृताः । तत इन्द्रियसहितमनश्चेष्टया वशीकृता जाता इत्याह—अनुरागेति । अनुरागः स्नेहो मानसः, तत्पूर्वकं स्मितम्, तस्य विलासः स्वनिष्ठतात्याजनार्थः । अन्यथैवं सति ज्ञानमेवोदयं प्राप्नुयात् । अतः स्मितेन मन्दहासेन ईषद्विमोहिताः, न बहिर्गताः, नान्तः स्थिताः, किन्तु भगवति मध्ये स्फुरिते तद्धर्मेषु च समागताः । अनुरागस्मितेन सहितो यो विभ्रमो विलासः अलसवलितादिः तत्सहितानीक्षितानि, सर्वं एव कटाक्षाः । वाचिकैरपि विमोहमाह–मनोरमालापेति । मनोरमयतीति, मनसि रमते इति वा, मनोरमः, योऽयमालापः, भगवतो गुह्यभाषणानि, केवलवाक्यस्य चित्ताक्षेपकत्वं न भविष्यतीति प्रामाण्यावधारणं स्त्रीणां प्रकारान्तरेण न भवतीति फलमेवादौ निरूपितम् । सुखार्थं हि भगवद्वाक्यानि तदानीमेव च सुखमुत्पादयन्ति । ते चालापाः क्वचिद्वन्धादिबोधका लीलोपयोगिन इत्याह–विहार इति । तत्रापि विलासाः अवान्तरभेदाः, यथोत्तानके ग्राम्यादयः । तैः पूर्वंकृतैः तमःसत्त्वरजोरूपैः त्रिविधमपि चित्तमाक्षिप्तमिति आक्षिप्तचित्ता जाताः । अतस्तापं न प्राप्तवत्य इति भावः । प्रमदा इति । बाह्याभ्यन्तरानुसन्धानहेतुभूतोऽत्युत्कटरसभावोऽत्र मदपदेनोच्यते । तेन प्रभुलीलाविष्करणं युक्तमिति भावः । किञ्च प्रमदाः प्रकृष्टो मदो यासां स्वभावत एव, अन्यथा दास्यभावान्न प्रच्युताः स्युः । तदा केवलभगवतः लीला स्वानुपयोगिनी साम्प्रतं च नानुभूतेति रमापतेर्लक्ष्मीपतेः, लक्ष्म्या सह विलासरूपां चेष्टां जगृहुः । एकस्या अपि बह्व्यश्चेष्टा इति तास्ता उक्ताः । नन्वीश्वरधर्माविष्करणं दासीनां निषिद्धमिति चेत्, तत्राह–तदात्मिका इति । भगवानेवात्मनि यासाम्, तथात्वेन स्फुरितः । अतो भगवल्लीलाग्रहणं तापनिवारकत्वेनोद्देशात उक्तम् । विस्तरमग्रे वक्ष्यति । क्रमहेतुत्वं च वक्ष्यामः ॥ २ ॥

ये गोपियां भगवान के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों से वश में हो गई थीं। इसलिये भगवद्भाव को प्राप्त हुईं, भगवान की काया, वाणी और मनकी भिन्न-भिन्न क्रियाओं को ग्रहण करती हुईं।

अब शुकदेवजी प्रथम भगवान की कायिक चेष्टा को कहते हैं। (गत्या) भगवान के शरीर की चेष्टा से गोपियां वशमें हो गईं।

यद्यपि कटाक्षों को इन्द्रियत्व ही है, तथापि भाव का उद्बोधन करने से भाव-प्राधान्य है, अतः मनको चेष्टात्व के अभिप्राय से मनकी प्रधानता कहते हैं। (तत इन्द्रियसहितमनश्चेष्टया) फिर भगवान की इन्द्रिय-सहित मनकी चेष्टा से गोपियां वश में हो गईं, इस बातको

आगे कहते हैं। (अनुरागेति) अनुराग-मानसस्नेहपूर्वक स्मित का विलास भक्तों की भगवान के भजन में स्थित निष्ठा को छुड़ाता है, कारण कि स्मित मायारूप है। इसलिये भगवान के भजन में स्थित भाव का त्याग करा करके केवल गोपियों के सदृश भक्तोंको प्रमदा भाव सम्पादन करके मानादिक भाव उत्पन्न करता है।

यदि भगवान् स्मितपूर्वक ईक्षण नहीं करें, केवल ईक्षण करे तो ईक्षण को ज्ञानात्मक होने से गोपियों में ज्ञांन का ही उदय हो, अर्थात् रसानुभवरूप ज्ञान ही हो। इसलिये भगवान ने स्मितपूर्वक ईक्षण किया। और स्मित—मंदहास से गोपियों को थोड़ा मोहित किया।

पहले छब्बीसवें अध्याय में (ताभिः समेताभिः) ४३ वें श्लोक में प्रकृष्ट उदार हास का वर्णन कर आये हैं, फिर जो यहां स्मित कहा है, इससे स्मित का अर्थ मंदहास ही होता है।

अब गोपियों की थोड़े मोहन से जो दशा हुई, उसका वर्णन करते हैं।

(न बहिर्गताः नान्तःस्थिताः) गोपियों को न तो केवल बाहर का अनुसंधान था, और न केवल भीतर का ही अनुसंधान था। अर्थात् गोपियों की केवल न तो धर्ममात्र में निष्ठा थी, और न केवल स्वरूपमात्र में निष्ठा थी किन्तु हृदय में स्थित भगवान में, तथा धर्मों में, उभयत्र प्राप्त होती दोनों में ही निष्ठा हुई थी।

भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत धर्मों ही द्वारा गोपियों के चित्तका आक्षेप हुआ था। मर्यादामार्गीय धर्मों द्वारा, तथा केवल स्वरूपमात्र से चित्ताक्षेप नहीं हुआ था। इसलिये पूर्वोक्त स्वनिष्ठता निवृत्त ही हो गई।

यदि गोपियों को केवल बाहर का अनुसंधान होता तो भगवान से हमारा बिरह हुआ है, इस प्रकार के ज्ञान से क्लेश को ही प्राप्त होतीं।

और गोपियोंको भीतर का अनुसंधान होता तो भगवान लीलासहित हमारे हृदय में विराजमान हैं, इस प्रकार के ज्ञान से केवल सुख का ही अनुभव करतीं। परन्तु गोपियों को तो क्षण-क्षण में विलक्षण भाव होते थे। जिस समय विरह-ज्ञान होता था, उस समय दुःख का अनुभव करती थीं, और जिस समय पुरुषोत्तम के भीतर सम्बन्ध का ज्ञान होता था, उस समय सुख का अनुभव करती थीं अतः गोपियों को सर्वथा बाहर की स्फूर्त्ति नहीं थी, और न सर्वथा भीतर की ही स्फूर्त्ति थी, यह जानना चाहिये।

गोपियों में बाह्य अनुसंधान, तथा अन्तर्निष्ठा, दोनों के उद्भव की उत्कंठा हुई, उस समय हृदय में भगवान स्फुरित हुए और गोपियां भगवान् के धर्मों को स्वयं करती हुई थीं।

अनुराग-स्मित सहित विभ्रम-विलास, अर्थात् अलस-संचलनादि सहित ईक्षण, ये सब कटाक्ष हैं।

भगवानने गोपियों को वाणी की चेष्टा से भी विमोह किया, इसको कहते हैं। (मनोरमालापेति) मन को रमण कराये, अथवा मन में रमण करे, उसको मनोरम कहते हैं। मनोरम आलाप–भगवान के गुप्त भाषण, केवल वाक्य चित्तका आकर्षण नहीं करता है। अतः 'तू मेरी प्राणप्रिया है', इत्यादि वाक्यों के प्रामाण्य का अवधारण=निश्चय स्त्रियों को सुखानुभव के अभाव समय में प्रकारान्तर से नहीं होता है, इसलिये प्रथम मनोरम आदि पद से फल का निरूपण किया है।

भगवान के वाक्य सुख उत्पन्न करने के लिये हैं। इसलिये भगवान् के वाक्य गोपियों को उसी समय सुख उत्पन्न करते हैं।

भगवान के गुप्तभाषण किसी समय बन्ध आदि का बोध करनेवाले लीला के उपयोगी हैं, इस बात को कहते हैं कि (विहार इति) भगवान ने आलाप-सहित विहार-विभ्रमों द्वारा गोपियों को विमोहित किया।

विहार में विलास अवान्तर भेदवाले हैं। जिस प्रकार उत्तानक बंध विशेष में ग्राम्यादिक विलास हैं, उसी प्रकार यहां विहार में अनेक प्रकार के विलास हैं।

भगवान की पहिले कही गई कायिक, वाचिक, मानसिक, तामस, राजस, सात्त्विक चेष्टाक्रियाओं ने गोपियों का तीन प्रकार के चित्त का आकर्षण किया। अर्थात् गोपियां आक्षिप्तचित्त वाली हो गईं, इसलिये गोपियों को ताप प्राप्त नहीं हुआ। यह भाव (प्रमदा इति) प्रमदा शब्द का है।

प्रभुचरण कहते हैं कि गोपियों को बाहर तथा भीतर का अनुसन्धान नहीं था, इसमें कारण गोपियों में उत्कट रस भाव है, यह उत्कट रस भाव यहां 'मद' पद से कहा है, इसलिये गोपियों में प्रभुलीला का प्रकट होना युक्त ही है।

गोपियां चित्तके आकर्षण से तथा स्वभाव से भी प्रमदा हैं।

(प्रमदाः) प्रकृष्टमदवाली स्वभाव से ही हैं।

यदि स्वभाव से प्रमदा न होतीं तो दास्यभाव से च्युत भी नहीं होतीं। इस प्रकार गोपियां प्रमदा हुईं।

गोपियोंको इस समय भगवान की केवल गोचारण आदि लीला उपयुक्त नहीं थी, और अभी हालमें भगवान की श्रृंगार रसमयी लीला का गोपियों ने अनुभव किया था, इसलिये (रमापतेः) लक्ष्मीपति की चेष्टा ग्रहण की, भगवान् लक्ष्मीजी के साथ जिन लीलाओं को करते हैं, उस श्रृंगार रस प्रकारवाली विलास रूप चेष्टा का गोपियों ने ग्रहण किया। एक-एक गोपी की बहुत सी चेष्टायें थीं, इसलिये मूल में (तास्ताः) यह चेष्टा का विशेषण कहा है।

यदि कहो कि गोपियां भगवान् की दासियां थीं, ईश्वर-धर्म प्रकट करना दासियों को निषिद्ध कहा है, फिर गोपियों ने ईश्वर-धर्म प्रकट क्यों किया।

इसका उत्तर कहते हैं कि (तदात्मिकाः) गोपियों की आत्मामें भगवान् ही थे, इसलिये भगवान् ही लीलाकर्त्ता स्फुरित होते हैं। और भगवल्लीला-ग्रहण गोपियों का ताप दूर करने वाला है।

इस प्रकार संक्षेप में श्रृङ्गारमात्र लीला का ग्रहण कहा है। विस्तार से वर्णन आगे करेंगे, और लीलाक्रम का हेतु कहेंगे ॥ २ ॥

(सुबो०) ततो भगवतः स्वरूपपरिग्रहो जात इत्याह-गतिस्मितेति।

प्रथम श्लोक में गोपियों ने भगवान् के धर्मों का ग्रहण किया, यह वर्णन किया।

अब आगे के श्लोक में गोपियों ने भगवान् का स्वरूप ग्रहण किया, इसका निरूपण करते हैं।

गति - स्मित - प्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्ण-विहार-विभ्रमाः ॥ ३ ॥

पदपदार्थ—(प्रियाः) प्रियगोपियां (प्रियस्य) प्रिय भगवान् के (गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु) गति-स्मित-प्रेक्षण भाषण आदि में (प्रतिरूढमूर्तयः) विपरीतता से आरूढ स्वरूप करने वालीं (अबलाः) बलरहित। (तदात्मिकाः) भगवत्स्वरूपात्मक (कृष्णविभ्रमाः) कृष्ण की तरह विहार-विभ्रम वाली गोपियां (असौ, अहं) यह कृष्ण, मैं कृष्ण, (इति) इस प्रकार (न्यवेदिषु.) निवेदन करती हुईं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—प्रिय भगवान् की गति-स्मित तथा प्रेक्षण-भाषण आदि में प्रिया गोपियां अपने धर्मों का आरोप करके, अर्थात् भगवद्धर्मों में अपनी मूर्ति आरोपण करके, तदात्मक हुईं अबलाएँ कृष्ण की तरह विलास करतीं 'यह कृष्ण है, मैं कृष्ण हूं' इस प्रकार निवेदन करने लगीं ॥ ३ ॥

(सुबो०) धर्माश्चेत् स्वस्मिन् समागताः, तदैकत्रोभयधर्मा विरुद्धा इति भगवति स्वधर्मानारोपितवत्यः। कायवाङ्मनसां दृष्टेश्च चत्वारः प्रधानधर्माः। तेषु सर्वेष्वेव प्रतिरूढा मूर्तिर्यासाम्। भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपिता। अन्यथा अन्योऽन्यधर्माभिनिवेशाभावे सम्यग् विलासो न स्यात्, यदाह। गतिः कायिकी, स्मितं मानसम्, प्रेक्षणमैन्द्रियकम्, भाषणं वाचिकम्, तदादयो यावन्तो विभ्रमाः बन्धादयः रतिरूपा एव। तेषु सर्वेष्वेव प्रियस्य सम्बन्धिषु स्वयं प्रियाः भोगावस्थामेव प्राप्ताः विपरीता जाताः। 'रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्त' इति वात्स्यायनः। अत एव स्वयं प्रियायोग्याः प्रतिरूढा विपरीततया आरूढा मूर्तयः स्वरूपाणि यासामिति। तत्र यासां भगवानल्पव्यवहितः पूर्वमासीत्, ताभिर्भगवत्प्रश्ने कृते, अन्तर्हिताज्ञानात् तत्रोत्तरवक्त्र्यो भवन्ति। 'असौ कृष्णः' 'अहं कृष्ण' इति। अथवा योऽन्विष्यते, सोऽसावहमिति। अन्यासां प्रतीत्यर्थं नटः कपटवेषं कृत्वापि वदति क्रीडायाम्, तथा न, किन्तु स्वत एवेत्याह—अबला इति। अबलाः स्त्रियः भगवद्रूपाविष्कारे च बलरहिताः। स्पष्टवैलक्षण्यं च स्त्रीपुरुषयोः। तथा कथने प्रतारकत्वमालक्ष्याह—तदात्मिका इति। न केवलं धर्म्यापत्तिः, किन्तु तद्धर्माणामपीत्याह। कृष्णवत् विहारः कायवाङ्मनोव्यापारः, विभ्रमाः तत्रत्या विलासाः यासाम् ॥ ३ ॥

जिस समय गोपियों में भगवान् के धर्म प्राप्त-सङ्गत हुए, उस समय एक मूर्ति दोनों के धर्म—गोपियों के तथा भगवान् के धर्म विरुद्ध हुए। इस विरोध को दूर करने के लिये गोपियों ने भगवान् में अपने धर्मों का आरोप कर दिया, अर्थात् अपनी गतिमें प्रियगति की भावना की। भगवद्धर्म रमण का अनुकरण करती गोपियां, भगवान ही रमण कर रहे हैं, यह मानती बार-बार उसी प्रकार रमण करती हैं।

इस प्रकार भगवद्धर्म रमण में अपनी मूर्ति-देह का आरोपण—भगवदेकपरता करके भगवान की तरह रमण करती स्थित हुईं।

शरीर, वाणी, मन और दृष्टि इन चारों के धर्म मुख्य हैं। उन सभी के धर्मों में गोपियों की प्रतिरूढ मूर्ति हो गई, अर्थात् भगवान के धर्मों में गोपियों ने अपनी मूर्तियों का आरोप कर दिया। कारण कि भगवान् तथा गोपियों की परस्पर गत्यादि में पहले स्वाभाविक विलक्षणता थी, किन्तु इस समय भगवान् की गति आदि की तरह गोपियों का गति आदि संस्थानविशेष भी हो गया। पहले की तरह नहीं रहा। गोपियों की मूर्ति—शरीर भगवद्भाव को प्राप्त हो गई, इसको ही स्वरूप-परिग्रह कहते हैं।

यदि इस प्रकार स्वरूप-परिग्रह नहीं होता, अर्थात् परस्पर एक के धर्मों का एक में अभिनिवेश—गोपियों की गति में प्रियगति, तथा प्रिय भगवान् की गति में गोपियों की गति नहीं होती, तो सम्यक् प्रकार से विलास नहीं होता। इस बात को शुकदेवजी कहते हैं।

(गति-स्मित) गति-शरीर की क्रिया है, स्मित—मनकी क्रिया हैं, प्रेक्षण—देखना नेत्र इन्द्रिय (आंख) की क्रिया है। भाषण—बोलना वाणी की क्रिया है, इत्यादि समग्र जितने बन्ध आदि विभ्रम हैं, वे सब रतिरूप ही हैं।

प्रिय भगवत्संबन्धी समग्र विभ्रमों में गोपियां स्वयं प्रियारूप भोगावस्था को ही प्राप्त हुईं विपरीत हो गईं अर्थात् भगवानके धर्मों में अपनी मूर्ति का आरोप करने पर, यद्यपि भगवान् की तरह क्रिया करने लग गईं, तथापि प्रिय ही इस प्रकार की लीला कर रहा है, हम नहीं, यह भाव था।

वात्स्यायन सूत्र में कहा है कि 'रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्ते' रस अधिक होने पर स्त्रियां पुरुषत्व को प्राप्त हो जाती हैं। इसी से गोपियां स्वयं प्रिय भगवान् की प्रियायोग्य प्रतिरूढ मूर्ति—विपरीतता से भगवद्धर्मों में आरूढ स्वरूपवाली हो गईं।

इन गोपियों में भी जिन गोपियों से भगवान् पहले कुछ थोड़े दूर थे, उन गोपियों ने जिस समय भगवद्विषयक प्रश्न किया था, उस समय भगवान् तिरोहित हो गये, इस प्रकार का ज्ञान इनको नहीं था, इसलिये ये गोपियां ही प्रश्न का उत्तर 'यह कृष्ण हैं, मैं कृष्ण हूं' देती हैं।

तदात्मकत्व में 'असौ कृष्णः' यह कृष्ण है इस प्रकार का प्रयोग करना युक्त नहीं होता है, इसलिये अथवा, कहकर पक्षान्तर कहते हैं।

(योऽन्विष्यते) जिस कृष्ण को तू खोजती है, वह कृष्ण मैं हूं।

अन्य स्त्रियोंको प्रतीति—विश्वास कराने के लिये नट कपटवेष—बनावटी रूप धारण करके भी खेलने में इस प्रकार कहता है, किन्तु गोपियां नट की तरह बनावटी वेष बनाकर नहीं बोलती हैं, किन्तु स्वतः—अपने आप ही कहती हैं, इस बात को शुकदेवजी अबला शब्द से कहते हैं। स्त्रियां अबला हैं। भगवद्रूप प्रकट करने में बलरहित हैं।

यदि कहो कि स्त्री और पुरुष में विलक्षणता स्पष्ट प्रतीत होती है, इसलिये (अहं कृष्णः) मैं कृष्ण हूं इस प्रकार कहने से अन्य गोपियों को प्रतारकत्व-ठगना मालूम होता है।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं (तदात्मिकाः) गोपियां स्वयं भगवद्रूप हो गई हैं। केवल भगवद्रूपत्व ही नहीं किन्तु गोपियों में भगवान् के धर्म भी आ गये, अर्थात् गोपियों के धर्म भगवद्धर्मरूप हो गये हैं। गोपियों की गति अपनी गति नहीं है, किन्तु प्रिय-भगवान् की ही गति है। इसलिये कृष्ण भगवान् की तरह गोपियों ने विहार-शरीर, वाणी और मन का व्यापार। विभ्रम-शरीर, वाणी और मन के व्यापार में प्राप्त हुए, अवान्तर विलास किये ॥ ३ ॥

(सुबो०) एवं तापलीला भगवतामुद्देशतस्तासु सम्बन्धमुक्त्वा प्रथमं तापनिवृत्त्यर्थमन्वेषणं कृतवत्य इत्याह। गुणानामिव त्रयाणामेषामन्योन्योपमर्दनेन भगवदिच्छयाविर्भाव इति न परस्परकार्यप्रतिबन्धकता आपाततः। अतो यदा प्रपञ्चसंवेदनम्, तदा पृष्टवत्य इत्याह गायन्त्य— इति। प्रथमतो मिश्रभावात् गायन्त्यो जाताः।

इस प्रकार भगवान् की तापादि लीला को उद्देश से (संक्षेप से) गोपियों में रसासक्ति आदि सम्बन्ध को कहकर, प्रथम ताप-निवृत्ति के लिये गोपियां भगवान् की खोज करने लगीं, इस बात को कहते हैं।

सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों की तरह रसासक्ति आदि का परस्पर उपमर्दन होने से भगवान् की इच्छा से आविर्भाव है। अर्थात् रसासक्ति से अन्वेषण, भगवल्लीला-प्रवेश से भगवत्सदृश लीला तथा गर्वाभाव से अन्य विस्मृतिपूर्वक भगवान् की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना, ये तीनों परस्पर एक का एक उपमर्दन करके (दबा करके) भगवान् की इच्छा से प्रकट होते हैं। इसलिये कार्य में प्रतिबन्धकता नहीं होती है। इसीसे जिस समय गोपियों को प्रपञ्च का ज्ञान होता है, उस समय भगवद्विषयक प्रश्न करती हैं, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं। (गायन्त्यः) इस आगे के श्लोक में।

प्रथम गोपियां मिश्रभाव से गान करने लगीं, अर्थात् क्षण में सोना और क्षण में जगना, इस प्रकार 'सुप्तप्रबुद्ध' न्याय से बाहर का ज्ञान तथा बाहर का ज्ञान न होने से, गोपियों को संयोग-विरह-विषयक समूहालम्बन ज्ञान उत्पन्न हो गया, इसलिये मिश्रभाव से गान किया।

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥

पदपदार्थ—(संहताः) मिलित गोपियां (अमुमेव) भगवान को ही (उच्चैः) ऊंचे स्वर से (गायन्त्यः) गान करतीं (उन्मत्तकवत्) पागल की तरह (वनात्) एक वन से (वनम्) दूसरे वन में (विचिक्युः) ढूंढने लगीं (आकाशवत्) आकाश की तरह (भूतेषु) सर्वप्राणियों में (अन्तरम्) भीतर (बहिः) बाहर (सन्तं) स्थित-विराजमान (पुरुषं) पुरुष को (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (पप्रच्छुः) पूंछने लगीं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—गोपियां एकत्र मिलकर सब ऊंचे स्वर से भगवान का ही गान करतीं उन्मत्त

बावरे की तरह एक वन से दूसरे वन में प्रभु को खोजने लगीं, और आकाश की तरह सर्वप्राणियों के भीतर-बाहर स्थित पुरुष को उन्मत्त की तरह वनस्पतियें से पूंछने लगीं ॥ ४ ॥

यदि कहो कि प्रभु तो आनन्दरूप हैं, और गोपियों में भी आनन्द रूप भाव थे, इसलिये गोपियों में सर्वदा सदानन्द अवस्था ही उचित है, वक्ष्यमाण दुःखावस्था उचित नहीं है ।

इस शंका का उत्तर देते श्रीमहाप्रभुजी उक्त अवस्था का स्वरूप साढ़े तीन कारिकाओं से बतलाते हैं ।

(सुबो०) शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यन्तरयोगतः ।
विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ।
अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिक्याज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥
यथा भगवतो गानात स्वयमागत्य संगताः ।
एवं स्वयं भगवत आगत्यर्थं जगुः स्फुटम् ॥ २ ॥
कृत्रिमत्वात्तु भानस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः ।
ततो विशेषविज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः ॥ ३ ॥

उक्त कारिकाओं का आशय टिप्पणी में श्रीविट्ठलनाथजी इस प्रकार कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ काल से कृष्णावतारकाल पर्यन्त भगवान् ने स्वरूपानन्द प्रकट नहीं किया ।

स्वरूपानन्द स्वरूपात्मक है, इसके प्राकट्य बिना स्वरूपानन्द का अनुभव होना सम्भव नहीं होता है ।

'तथा परमहंसानाम्' इस वाक्यानुसार जिस प्रकार के भक्तियोग से स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है, उस प्रकार का स्वरूपानन्द प्रकट करने के लिये 'अथ सर्वगुणोपेतः' इत्यादि से श्रीभागवत में कहें हुये काल में पुरुषोत्तम का अवतार हुआ है ।

यदि कहो कि प्रभु के प्राकट्य में दुःखरूप अनर्थ की आपत्ति प्राप्त होगी, इसलिये उक्त आपत्तिभय से श्रुति आदि में कहे साधनों से साध्य स्वरूपानन्द है, भक्तियोग स्वरूपानन्द का साधन नहीं है, इस बात को भी कह नहीं सकते । इसीसे 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः' (भा० १।८।२०) इस वाक्य में कुन्ती ने कहा है कि पूर्ण साधनवालों को भी यह दुर्लभ है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये ही परमहंस आदि अधिकाकारियों के विशेषण कहे हैं ।

इस प्रकार भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से यहां सर्वभाव रसात्मक ही मानने चाहिये ।

यदि रसात्मक नहीं मानेंगे तो ईस लीला के श्रवणमात्र से स्नेह की उत्पत्ति नहीं होगी ।

इस प्रकार भगवद्रस वार्ता को न जाननेवाले आपकी यह शंका कण्टकवेधन्याय से कामिनी स्त्रियों के कुचकुम्भ में नखवेध को भी दुःखहेतु साधन बतलानेवाली होगी । इससे विशेष क्या कहा जाय ।

आपसे विरह-दुःखावस्था का स्वरूप कहते हैं (शब्दो हि धूमवल्लोके) भक्तों का भगवद्गुणगानात्मक शब्द, अगर आदि के धूम की तरह निर्गत हुआ, लोक में बाहर-भीतर योग से विराजता है, और प्रतिक्षण विचित्र होता जाता है ।

यहाँ तापकत्व से विरहाग्नि का ग्रहण किया है । जिस प्रकार लोक में बाह्य अग्नि, आर्द्र-गीले ईंधन से संयुक्त होता है, और वह उस लकड़ी आदि गीले ईंधन में जो अग्नि है, उसको प्रकटकरने की चेष्टा करता है, उस समय गीला ईंधन प्रतिबन्ध करता है, और असमर्थ होता हुआ धूम को ही उत्पन्न करता है । उसी प्रकार यह विरहाग्नि भी गोपियों को जिस समय बाहर का ज्ञान होता है, उस समय सर्वथा भगवान तिरोहित हो गये, इस प्रकार की स्फूर्ति करता है । बाहर का ज्ञान गीले ईंधन स्थानीय है, इसलिये जिस समय बाहर का ज्ञान होता है, उस समय विरहाग्नि भी गानरूप धूम को उत्पन्न करता है । इस प्रकार विरहाग्नि का धूम गानरूप शब्द ही है, इसलिये आधी जली लकड़ी की तरह गोपियों की अवस्था सिद्ध होती है । इसी अवस्था को 'बाह्याभ्यन्तरयोगतः' इस पद से कहा है । नहीं तो एकदम पूर्ण अग्नि प्रकट हो जाय तो क्षणमात्र में सब को भस्म कर दे ।

जिस प्रकार धूम का प्रथम एक रूप ही होता है, फिर अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार गान में भी उत्तरोत्तर विचित्र भाव उत्पन्न होने से विचित्र हो जाता है, इस बात को 'विराजते' इस पद से कहा है ।

जिस प्रकार अगर आदि से निकलते धूम की शोभा होती है, उसी प्रकार इस शब्द की गानरूपता है, इस बात को सूचन करने के लिये (विराजते) यह पद कहा है । कारण कि भगवान् रसात्मक है, और भाव भी रसात्मक है, इसलिये अखण्ड द्वैत होने से स्वामिनियों का ज्ञान उत्तम है, इस बात को आगे स्फुट कहते हैं, (धर्मिधर्माणाम्) ये भाव स्थायिभाव के व्यभिचारी भाव हैं ।

धर्मी, श्रीकृष्ण के धर्म-गति, स्मित, इत्यादि तथा विहार-विभ्रमादि जीव और जीव के धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं । अर्थात् 'असावहं' कृष्ण मैं हूं, इस प्रकार का स्वामिनियों का ज्ञान उत्तम है ।

(कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्) इस वाक्य से अखण्ड द्वैतभान जीवधर्म है, जीव चित्प्रधान है ।

प्रकृत गोपियों के प्रसङ्ग में तो स्वामिनियों का ज्ञान वरणैकलभ्य है, और गोपियां भगवत्पर हैं, विषय भी भगवत्पर ही हैं, इसलिये जीवधर्म अखण्ड द्वैतभान से गोपियों का ज्ञान उत्तम है ।

अथवा जिस प्रकार से प्रिय की तरह विहार आदि गोपियों ने किया, उसी प्रकार यह गान भी किया, इस बात को कहते हैं, (यथा भगवतः) जिस प्रकार भगवान् के गान से गोपियां स्वयं आकर संगत हो गईं, उसी प्रकार हमारे गान से भगवान् स्वयं आकर हमसे संगत हो जायंगे, इस उद्देश से गोपियों ने स्फुट गान किया ।

प्रीति विषयों का आकारण भगवद्धर्म यहां कहा है, इसी से भगवान् गान से उस समय गोपियों के आगमन की तरह इस समय प्रभु का आगमन नहीं हुआ है, कारण कि आगमन को स्वधर्मता है । भगवान् कौतुक के लिये यहां कहीं छिपे हुये हैं, और रसपरवश हैं, इसलिये हमारे गान से आ जायगें, इस बात को गोपियां जानकर गान करने लगीं ।

इस पक्ष में गोपियों को बाहर का ज्ञान है, परन्तु भगवान् का दर्शन न होने के कारण उत्पन्न हुई आर्ति से गान करती हुईं, यह जानना चाहिये ।

सर्वथा बाहर का ज्ञान होने पर ही एकत्रित होकर ढूंढना संभव हो सकता है, इसमें हेतु कहते हैं (कृत्रिमत्वात्तु) गोपियों में भगवद्भाव विरह से उत्पन्न कृत्रिम है, इसलिये तिरोधान आवश्यक है, इसमें हेतु विचित्र भाववाली गोपियों का मिलन है, इस मिलन को कहते हैं (मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः) विचित्रभाववाली गोपियां सब परस्पर मिल गईं, इसलिये स्वयं तथा अन्य गोपियों के द्वारा विशेष विज्ञान से भगवान् के तिरोधान की स्फूर्ति हो गई।

(यद्वा) दूसरा अर्थ-जिस समय गोपियों को अपने प्रिय का दर्शन नहीं हुआ, उस समय उत्कट भाव से केवल प्रिय की स्फूर्ति ही हुई।

यह भगवद्भाव कृत्रिम था। गोपियों का मिलन दो प्रकार से हुआ, एक स्वतः स्वयं तथा दूसरा 'अन्यतः' दूसरे के द्वारा।

जिन गोपियों में भगद्भाव प्राप्त हुआ था, वे गोपियां दूसरी गोपियों को सखी मानकर आश्लेषादि क्रिया करती हैं, इसको ही स्वतः मिलन कहते हैं।

जिस समय भगवद्भाववाली गोपी से आलिङ्गन आदि करती है, उस समय अन्य गोपी में भगद्भावबुद्धि नहीं है, इसलिये भगवद्भाव के प्रतिकूल आचरण करती हैं, अर्थात् आश्लेषादि नहीं करने देती हैं, उस समय पूर्वभगवद्भाववाली गोपी को विशेष विज्ञान होता है, अर्थात् अपनी स्थिति का यथार्थभान होता है।

अन्य भी गोपी भगवद्भावापन्न-जो अपने को भगवान् मानती थी, उसको अपनी सखी मानकर मिले, तब उसको 'अन्यतः' मिलन कहते हैं।

इस पक्ष में दूसरी गोपी भगवान् माननेवाली इस गोपी को भगवान् नहीं मानती है, इस गोपी को भी विशेष विज्ञान होता है।

इस प्रकार विशेष विज्ञान होने से भगवान् के तिरोधान की स्पष्ट स्फूर्ति होती है।

यदि कहो कि जिस प्रकार आगे श्लोक १५ में पूतना के प्राण-पान करनेवाली लीला में, प्रभुभाव को प्राप्त हुई गोपी ही, पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी का ही स्तनपान करनेवाली हुई, उसी प्रकार यहां भी क्यों नहीं किया। यदि उक्त प्रकार से यहां भी लीला होती, तो विशेष विज्ञान नहीं होता। इस बात को कहते हैं (कृत्रिमत्वात्) भाव कृत्रिम है।

आगे लीला का आविर्भाव कहना है, इसलिये जिस प्रकार की लीला है, उसी प्रकार की ही प्रकट होती है, इसलिये सब बात उपयुक्त हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में तो प्रिय का दर्शन न होने पर उत्कटभाव उत्पन्न हो जाता है, और उत्कटभाव से प्रियमात्र की स्फूर्ति होती है, प्रियतम मात्र की स्फूर्ति से अपने प्रियत्व से मान है, इसलिये इस भाव को कृत्रिमत्व है। इसलिये—इसभाव को कृत्रिमत्व होने से, जिस समय इस भाव से उक्त रीति द्वारा अन्य ज्ञान होता है, उस समय तिरोभाव की स्फूर्ति होती है। यह अर्थ हुआ ॥ ३½ ॥

(सुबो०) तदा विचिक्युः क भगवानस्तीत्यन्वेषणं कृतवत्यः। तत्रापि न सर्वात्मना तिरोभावः स्फुरित इति अन्वेषणेऽपि अनियतवृत्तयो जाता इत्याह उन्मत्तकवदिति। अज्ञात उन्मत्त उन्मत्तकः, कुत्सितो वा। स यथा स्वपरविवेकं न जानाति, वस्त्रादिरहितश्च भवति। एवमवस्थां प्राप्ताः। एकस्माद्वनात् बनान्तरं गताः। किञ्च, न केवलमन्वेषणमात्रम्, किन्तु उन्मत्तकवत् पृच्छन्ति स्मेत्याह—पप्रच्छुरिति। शुको हि भगवत्स्वरूपाभिज्ञः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि कृष्णं सर्वत्रैव विद्यमानं पश्यति। यदि भक्तिसहितं ज्ञानमाविर्भवति, तदा अन्योऽपि पश्यति। सर्वत्रैव तिरोधाननाशात्। तादृशमेताः परिच्छिन्नं मत्वा पृच्छन्तीति तासामज्ञानकथनार्थमाह—आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तमिति। बाह्याभ्यन्तरविवेकहेतुराकाश इति पूर्वं निरूपितम्। तद्वदेवायमपि। अत एवाकाशस्य ब्रह्मलिङ्गत्वम्। एतादृशं सर्वत्रैव विद्यमानमदृष्ट्वा, आत्मनि विचारं त्यक्त्वा, चेतनांश्चापृष्ट्वा स्थावरान् पृच्छन्ति। वनस्पतीन् पप्रच्छुरिति। ते हि वैष्णवा इति। मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुगतिं जानन्ति, न त्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥ ४ ॥

उस समय मिलकर गान करती हुई गोपियां भगवान् को ढूंढती हुईं, अर्थात् भगवान् कहां हैं, इस प्रकार अन्वेषण करने लग गईं।

यद्यपि अन्वेधण करने में गोपियों को बाहर का ज्ञान था, किन्तु जिस प्रकार मादक द्रव्य के स्वभाव से पुरुष उन्मत्त—विवेकरहित हो जाता है, उसी प्रकार विरह भाव के स्वभाव से उत्पन्न हुई विकलता से गोपियों को भगवान् का सर्वात्मा से तिरोभाव स्फुरित नहीं हुआ। इसलिये ढूंढने में भी गोपियों के चित्त की वृत्तियां नियत-ठिकाने पर नहीं रहीं, और की और हो गई, इस बात को कहते हैं, (उन्मत्तकवत्) जिसका उन्माद ज्ञात नहीं होता है, किसी समय अन्यथा कहता है, और किसी समय ठीक-ठीक बोलता है, उसको उन्मत्तक कहते हैं। उसी प्रकार गोपियां भी यहां कभी अन्वेषण करती हैं, और कभी नहीं करती हैं।

मूल में (विचिक्युः) यह पद कहा है, इसलिये यहां अन्वेषण ही वाक्यार्थ है। अन्वेषण का अभाव कहना युक्त नहीं है, इस आशय से पक्षान्तर सुबोधिनी में (कुत्सितो वा) कहा है। जिस प्रकार कुत्सित उन्मादवाला यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार का विवेक नहीं जानता है, वस्त्रादिरहित भी हो जाता है, ठीक इसी प्रकार की अवस्था गोपियों को प्राप्त हो गई और गोपियां ढूंढते-ढूंढते, एक वन से दूसरे बन में चली गईं।

गोपियों ने केवल अन्वेषण ही नहीं किया, किन्तु उन्मत्तक की तरह पूछने भी लग गईं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (पप्रच्छुः) शुकदेव जी भगवान् के स्वरूप को जानने वाले हैं, ये आनन्द मात्र कर-पाद-मुखोदरादि कृष्ण को सर्वत्र ही विद्यमान देखते हैं।

जिस समय भक्तिसहित ज्ञान का आविर्भाव होता है, उस समय अन्य भी कृष्ण को सर्वत्र विद्यमान देखता है। कारण कि सर्वत्र तिरोधान का नाश हो जाता है। इस प्रकार से कृष्ण को गोपियां परिच्छिन्न मानकर पूछती हैं, अतः गोपियों के अज्ञान को कहते हैं (आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तम्) आकाश की तरह प्राणियों में भीतर-बाहर स्थित पुरुष को गोपियां वनस्पतियों से पूछने लगीं।

आकाश बाहिर तथा भीतर के विवेक में हेतु है, अर्थात् आकाश बाहर-भीतर का विवेक करता है। इस बात को तृतीय स्कंध में पूर्व निरूपण कर आये हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी बाहर तथा भीतर दोनों का विवेक करने वाले हैं, इसी से आकाश को ब्रह्मलिङ्ग माना है।

इस प्रकार सर्वत्र ही विद्यमान कृष्ण को न देखकर, तथा अपनी आत्मा में भी विचार न करके, और चेतन जीवों से भी न पूछकर, गोपियां स्थावर वृक्षों से पूछती हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (वनस्पतीन्पप्रच्छु:) गोपियों ने वनस्पतियों से पूछा।

वनस्पति वैष्णव हैं, इसलिये मूढ भी, वैष्णव ही विष्णु-व्यापक भगवान् की गति को जानते हैं. अवैष्णव अत्यन्त निपुण भी विष्णुगति नहीं जानते हैं, इस बात को सूचन करने के लिये गोपियों ने स्थावरों से पूछा है।

यदि कहो कि भागवत एकादशस्कंध में भगवान् गोपियों को सर्व से उत्तम कहा है 'मत्स्वरूपविदोऽबला:' मेरे स्वरूप को गोपियां जानने वाली हैं, इस प्रकार भी कहा है, और यहां तो मूल सुबोधिनी में भक्त की अपेक्षा शुकदेवजी का उत्कर्ष वर्णन प्रतीत होता है, इसलिये मूल से विरोध मालूम स्पष्ठ हो रहा है, 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभु जी ने 'शुद्धा: प्रेम्णातिदुर्लभा:' शुद्ध प्रेमवाले भक्त अति दुर्लभ बतलाये हैं। तथा 'एतादृशस्तु पुरुष: कोटिष्वपि सुदुर्लभ:। यो दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्॥ हित्वा कृष्णे परं भावं गत: प्रेमप्लुत: सदा।' जो स्त्री, घर, पुत्र, आप्त, प्राण, धन और इस लोक, तथा परलोक को छोड़कर कृष्ण में पर भाव को प्राप्त हुआ, इस प्रकार का पुरुष करोड़ों में भी सुदुर्लभ है। इस निबन्ध वाक्य से भी विरोध प्रतीत होता है।

इस प्रकार के विरोध का परिहार करने के लिये श्री गो०विट्ठलनाथ जी टिप्पणी में कहते हैं, 'अत्रायं भाव:' यहां यह भाव है।

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मन:।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिह॥'

मदात्मा भक्त को ज्ञान और वैराग्य यहां प्राय: श्रेयस्कर नहीं है।

इस प्रकार उक्त भगवद्वाक्य से भक्तिमार्ग में ज्ञान-प्रतिबन्धक माना गया है। यह बात युक्त भी है, कारण कि जिस समय आत्मत्व से भगवान् का ज्ञान हो जाता है, उस समय भगवान् के दर्शन आदि की इच्छा से उत्पन्न आर्ति का होना असंभव होता है, और आर्ति बिना प्रभु का प्राकट्य होना भी असंभव हो जाता है, इसलिये उक्त ज्ञान से सर्वस्व-नाश ही होता है। जहां पर काल आदि का नियन्ता ज्ञानात्मक प्रतिबन्धक होता है, वहां पर भी कंसादिभयज्ञानरूप स्नेहकार्य ही देवकी जी में उत्पन्न हुआ था, फिर प्रतिबन्धकरहित भक्तों में स्नेहमात्र कार्य सम्भव हो तो इसमें क्या कहने की बात है। अर्थात् जब इस प्रकार शुद्ध प्रेमभक्त नहीं, किन्तु ज्ञानमिश्र भक्त कहता है, तब शुद्ध भक्त की क्या बात है, इस प्रकार कैमुतिक-न्याय यहां कहा है। इसी बात को ज्ञापन करने के लिये ही शुकदेव जी का उत्कर्ष यहां बतलाया है।

अब भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञापन करने के लिये कहते हैं।

देवकी जी में देवकीधर्मरूप ज्ञान प्रतिबन्धक था, और यहां तो मूल में 'आकाशवदन्तर्बहिर्भूतेषु सन्तं' इत्यादि विशेषण से भगवद्धर्मरूप ज्ञान कहा है, तो जब भगवद्धर्मरूप ज्ञान जहां प्रतिबन्धक नहीं है, वहां और धर्म प्रतिबन्धक कैसे हो सकता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये उक्त विशेषण है। अर्थात् प्रतिबन्धक हेतु का सत्त्व होने पर भी गोपियों में भगवद्धर्मरूप ज्ञान नहीं है। इसलिये भक्ति की ही उत्तमता सुचन की है, इसी बात को मुल में 'तासामज्ञानकथनार्थम्' गोपियों को अज्ञान है कहने के लिये 'आकाशवत्' इत्यादि कहा है, इसलिये विरोध नहीं है।

यदि कहो कि 'परिनिष्ठितो नैर्गुण्ये' निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावाले शुकदेवजी का चित्त भगवल्लीलाओं ने ग्रहण कर लिया। इस वाक्य से शुकदेवजी में भी भक्तिका उद्रेक था, इसलिये शुकदेवजी में भी ज्ञान का अभाव कहना उचित है, फिर ज्ञानमिश्र भक्ति क्यों कहते हो?

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी के अधिकार-स्वरूप का परिचय कराते हैं। शुकदेवजी को इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो तो, फिर इस कथा के कहने की भी शक्ति नहीं हो, एवं इनका जीवन भी नहीं हो, इसीलिये शुकदेवजी में ज्ञानमिश्रित भक्ति है, यह तात्पर्य जानना चाहिये।

यदि शुकदेवजी में ज्ञान न हो, और शुद्ध भक्ति ही हो तो, इस प्रकार के भाव से श्रीभागवत का प्रचार ही नहीं होता। अत: शुकदेवजी का स्वरूप इस प्रकार का शाब्द ज्ञान वाला है, भक्तों की तरह अनुभव नहीं है, इतना ही शुकदेवजी का अधिकार है, इसीलिये शुकदेवजी में ज्ञान भक्तिका उद्रेक है।

इसी बातको आचार्यों ने 'गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते। यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यत:॥' जिस प्रकार शुक आदि को गोविन्द के गुणगान करने में सुख की प्राप्ति होती है, उस प्रकार आत्मा में नहीं, फिर अन्य से कैसे हो सकती है।

अब पूर्व वर्णन किया, तथा हाल में वर्णन किया, तात्पर्य दृढ करने के लिये श्रीविट्ठलनाथजी मूल में 'भूतेषु' इस पद में भूत पदका तात्पर्य कहते हैं।

यहां 'सर्वेषु' इत्यादि पद को न कहकर, जो नपुंसकलिङ्ग भूत-पद का प्रयोग किया है. इससे प्रभु का पुरुषत्व सूचन किया है।

जिस प्रकार नपुंसक को पुरुष के निकट में रस की उत्पत्ति नहीं होती, स्त्रियों को ही होती है, उस प्रकार प्रभुके सान्निध्य में भी भूतों-प्राणियों को रस उत्पन्न कहीं होता है, गोपियों को तो रसोत्पत्ति युक्त ही है। यह भाव ज्ञापन किया है। इसी से गोपियों को ही प्रभु के रस का परिज्ञान है।

यदि कहो कि भक्तों को ही प्रभुरस का ज्ञान है, तो सर्वदा ही इस प्रकार का भाव रहना चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं,

गोपियों में इतनी बात विशेष है कि बाहर सम्बन्ध में, और भीतर सम्बन्ध में विलक्षण भाव उत्पन्न होते हैं।

यदि कहो कि भगवान ही पुरुष हैं, तो स्त्रीत्व जिसमें है, उसी को रसका ज्ञान होना उचित है, केवल गोपियों को ही नहीं।

इसका उत्तर यही है कि पहिले कात्यायनी-स्वरूप-निरूपण-प्रस्तावमें कहा है कि यहां इस रस में स्त्रीत्व विवक्षित है, इसलिये हमारा कहा काल्पनिक नहीं है, यह भाव 'भूत' पद के प्रयोग से सिद्ध है, इसलिये, किसी शंका का यहां लेशमात्र भी नहीं है।

इस प्रकार अधिकार का तारतम्य विवेचन करके, अब व्याख्यान-प्रतिपादन से, उसको दृढ करते हैं।

गोपियों को भगवान का दर्शन होने पर ही, भगवान बाहर भी हैं, और भीतर भी हैं, इस प्रकार ज्ञान है। अब इस समय भगवान का दर्शन नहीं हो रहा है, इसलिये बाहर, भीतर का ज्ञान भी नहीं है। अत: भीतर का अनुसन्धान न होना उचित ही है। परन्तु गोपियों को

भगवान की प्राप्ति अपेक्षित है, इसलिये बाहिर का भी यथावत् अनुसन्धान न होने से जहां तहां प्रश्न किया ।

गोपियोंमें 'स एवाधस्तात्' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किया बाहर-भीतर ज्ञान का अभाव रूप व्यभिचारी भाव स्फुट हुआ है, शुकदेवजी में नहीं हुआ । इस बात का प्रथम विशेषण आकाश से निश्चय होता है ।

तृतीय स्कंध में 'भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च' कपिलदेवजी ने यह आकाश का लक्षण कहा है, और शुकदेवजी ने दृष्टान्त में आकाश का निरूपण करके भीतर-बाहर व्यापकत्व कहा है, इसलिये मालूम होता है कि शुकदेवजी को भीतर-बाहर व्यापकत्व का अनुसन्धान है, अत: शुद्ध भक्त गोपियों में और शुकदेवजी में अधिकारभेद स्पष्ट ही है ।

इसीसे शुकदेवजी कहते हैं 'आकाशवत्' सर्वत्र विद्यमान पुरुष को । 'पुरुषं' पुरि=हृदयाकाश में शयन करनेवाला, पुरुष कहलाता है ।

अब प्रकारान्तर से अधिकार का तारतम्य कहते हैं ।

प्रकरण यहां भक्तिमार्ग का है, इसलिये भगवान् ने जिन जीवों को बाहर भावित कर दिया, वे सब जीव 'बहिर्भूत' पद से कहलाते हैं । अर्थात् बहिर्भावित जीवों में ही आकाशवत् निराकार की तरह भगवान् परोक्षता से स्थित है, उसमें भी भीतर ही स्थित हैं, बाहर प्रकट होकर कभी भी स्थित नहीं हैं । वास्तव में तो भक्तिमार्गीयों में भगवान् पुरुषत्व रूप से साकार बाहर प्रकट पतिरूप है । इसलिये भीतर ज्ञान होने पर भी बाहिर ढूंढना उचित ही है ।

ब्रह्मसूत्र ३।३।३३ में 'औपसद न्याय' कहा है, उसमें यजमान जिस ऋत्विज का जिस कार्य के लिये वरण करता है, वही यज्ञ में उस कार्य को करता है, उक्त न्यायानुसार भगवान् के विचार से अधिकार का तारतम्य है ।

यद्यपि शुकदेवजी भक्त है, तथापि गोपियों के सदृश अधिकार नही हैं । इसीलिये शुकदेवजी को स्वस्थता आदि रही, गोपियों को नहीं रही ।

भीतर का ज्ञान तो दोनों को ही बराबर है, किन्तु केवल गोपियों का अधिकार सामर्थ्य से दूर हो गया, और शुकदेवजी का नहीं हुआ । यह सब बात औपसद न्याय से सहज में सिद्ध हो जाती है, और कोई विरोध नहीं होता है ।

स्त्रियों को अपने पति का भीतर अन्वेषण करना, और भीतर स्थिति का ज्ञान होना स्वस्थता में हेतु नहीं हैं, और न पुरुषार्थ साधक हो होता है । इस प्रकार मूल का अर्थ है ॥ ४ ॥

(सुबो०) तत्रापि प्रथमं विष्णुब्रह्मशिवतां लोके प्राप्ताः अश्वत्थप्लक्षवटास्तान् पृच्छन्ति दृष्ट इति ।

वनस्पति मात्र वैष्णव हैं, फिर प्रथम अश्वत्थ आदि से गोपियों ने क्यों पूंछा । इसमें हेतु कहते हैं, कि लोक में पीपल, विष्णु और पाखर, ब्रह्मा तथा बड़, शिव हो गये हैं, इसलिये प्रथम अश्वत्थ आदि से गोपियाँ प्रश्न करती हैं ।

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(हे अश्वत्थ) हे पीपल (हे प्लक्ष) हे पाखर (हे न्यग्रोध) हे बड़ (वः) तुम्हारा संबंधी कृष्ण (दृष्टः) आपने देखा (कच्चित्) प्रश्न संभावना में (नन्दसूनुः) नंदरायजी का पुत्र (प्रेमहासावलोकनैः) प्रेमपूर्वक हास्य, और अवलोकन से (नः) हमारा सब का (मनः) मनको (हृत्वा) हरण-चोरी करके (गतः) गया है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे पीपल ! हे पाखर ! हे बड ! तुम्हारा सम्बंधी कृष्ण तुमने देखा है क्या ? वह नन्दरायजी का पुत्र प्रेमपूर्वक हास्य तथा अवलोकन से हमारा मन चोरी कर गया है ॥ ५ ॥

(सुबो०) अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षः, विष्णुवत् लोके सन्मानमर्हतीति प्रायेणायं ज्ञास्यति, तत्राप्ययं स्तब्धः स्वोत्तमभावनया न ज्ञास्यतीति तदर्थं हेतुभूतं नामाह । अश्वस्तिष्ठत्यस्मिन्निति अश्वत्थः । लोकास्त्वश्वे तिष्ठन्ति, अस्मिस्त्वश्वस्तिष्ठतीति । 'अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठत्' इति श्रुतेः । तर्हि प्राजापत्योऽश्वत्थ इति तदपेक्षया प्राजापत्यो वृक्षः द्रष्टव्य इति प्लक्षं पृच्छन्ति प्लक्षेति । तत्रापि तस्याज्ञानं नाम्ना वदन्ति । अयं हि मनुष्याणामज्ञानार्थं पावित्र्यक्षारणादुत्पन्नः अपवित्रः लोकानामज्ञानहेतुरेव, अतः कथं वक्ष्यतीति । 'पशुना वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् , तेऽमन्यन्त मनुष्या नीत्वा भविष्यन्तीति, तस्य शिरश्छित्वा मेधं प्राक्षारयन् , स प्लक्षोऽभवदि'ति श्रुतेः । तर्हि कर्मसम्बन्धरहितः वैष्णवधर्मोपदेष्टा शिवः प्रष्टव्य इति तद्रूपं न्यग्रोधं पृच्छन्ति न्यग्रोधेति । तस्यापि दूषणम् । नितरामग्राण्यधो यस्येति । अतोऽन्ते हीनभावं गच्छतीति अग्रे गमनहेतुर्भविष्यति । वः युष्माकं सम्बन्धी भवद्भिः किं दृष्टः । प्रश्नसंभावनायां कच्चिदिति । दृष्टोऽस्माभिः पूर्वम् , सर्वदैव वा, ततः किं भवतीनामिति चेत् , नो मनः हृत्वा गत इति । ननु स विष्णुः कथं चौर्यं करिष्यतीति, तत्राहुः नन्दसूनुरिति । नन्दस्य चेत् पुत्रो जातः, तदा तत्कार्यं कर्तव्यम् । ते हि दधिदुग्धादिचौर्यं कुर्वन्ति । अतो मनश्चौर्यमपि नात्यन्तं विरोधि । भर्तृनामाग्रहणं वा । अत एव हरणपर्यन्तं प्रभुपुत्र इति न ज्ञातः । अन्यथा भोगं परित्यज्य कथं गच्छेत् । नन्वन्तःस्थितं मनः कथं गृहीतमित्याशंक्य, त्रिविधं मनः त्रिभिरपि धर्मैर्गृहीतवानित्याह प्रेमहासावलोकनैरिति । प्रेमपूर्वकहास्यसहितान्यवलोकनानि मनोहराणि । तमोरजःसत्त्वभावा उक्ताः । प्रेम्णा अन्तः प्रवेशः, हास्येन ग्रहणम् , अवलोकनेन हरणमिति ॥ ५ ॥

पीपल वैष्णव वृक्ष है, लोक में पीपल का विष्णु की तरह सन्मान-पूजन होता है, इसलिये प्राय करके पीपल भगवान को जानता होगा । गोपियां इसके नाम से प्रश्न का उत्तर करती हैं ।

यद्यपि पीपल वष्णव होने से विष्णुगति जानता होगा, तथापि यह स्तब्ध एक स्थान में रहने वाला है, अपने को उत्तम जानता है, इसलिये भगवान को नहीं जानता होगा। इस बातको सूचन करने के लिये गोपियां हेतुभूत नाम की ब्यत्पत्ति करती हैं। अश्व स्थित रहता है जिसमें वह अश्वत्थ हैं।

लोक तो अश्व पर बैठते हैं, और अश्वत्थ में अश्व स्थित है। इसमें श्रुति का प्रमाण कहते हैं 'अश्वो रूपं कृत्वा' इत्यादि, अश्वरूप को धारण करके जो अश्वत्थ में रहा, इसलिये अश्वत्थ-पीपल कहा जाता है।

तो फिर प्राजापत्य-प्रजापति देवतावाला वृक्ष अश्वत्थ है, इसलिये पूर्वकथित पीपल की अपेक्षा प्रजापति देवता वाला वृक्ष पूछना चाहिये। इस प्रकार विचार गोपियां प्लक्ष-पाखर को पूछती हैं।

इसमें भी पाखर का अज्ञान नाम से कहती है।

यदि कहो कि उक्त वृक्ष बड़े हैं, इसलिये गोपियों ने इनसे पूछा है, उत्तर न देने पर भी इन वृक्षों में दूषण नहीं देना चाहिये, अपने में ही दूषण का आरोप करना चाहिये।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं। यह पाखर मनुष्यों में अज्ञान के लिये, अर्थात मनुष्य अज्ञान में रहे, इसके लिये पवित्रता, स्नान आदि दूर करने के अनन्तर उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह अपवित्र हैं, और लोकों को अज्ञान का ही हेतु है, अतः उत्तर क्यों देगा। इसमें भी श्रुति प्रमाण देते हैं। 'पशुना वै' इत्यादि। पशुद्वारा देवता स्वर्गलोक में गये, देवताओं ने विचार किया, कि मनुष्य अपने पीछे आयेंगे, इसलिये देवताओं ने पशु का माथा काटकर लोहू की धारा बहा दी, वह रक्त प्लक्षवृक्ष हो गया।

तो फिर कर्मसंबंध रहित, और वैष्णव धर्म का उपदेश करनेवाले शिव को पुछना चाहिये। इस प्रकार विचार कर गोपियां शिवरूप वटवृक्ष से पूछती हैं। इस बड़ के वृक्ष में भी दोष है, 'न्यग्रोध' है, इसके अग्र भाग नीचे की तरफ हैं, इसलिये अन्त में हीनभाव को प्राप्त होता है, इस प्रकार उक्त दूषणों के कारण इन वृक्षों का त्याग करके भगवान आगे पधारे हैं।

यह कारण भगवान के आगे गमन में मालूम होता है। तुम्हारा सम्बन्धी भगवान क्या तुमनें देखा है,। इस प्रकार प्रश्न करने लग गई।

वृक्षोंने भगवान का दर्शन किया होता, तो भगवान वृक्षों के दर्शनका विषय होता, और इनका सम्बन्धी माना जाता। कच्चित् शब्द प्रश्न-संभावना में है, गोपियां कहती हैं कि पहले हमने भी भगवान का दर्शन किया था,।

अथवा सर्वदा भगवान का दर्शन पहले हम भी करती थीं।

यदि बृक्ष कहें कि गोपियों! भगवान से तुमको क्या प्रयोजन है।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं (नो मनो हृत्वा गतः) हमारे मन का हरण करके गया है।

यदि कहो कि विष्णु–व्यापक है, चोरी क्यों करेगा।

तब इसके उत्तर में कहते हैं कि (नन्दसूनुः) वह नन्द का पुत्र है, जिस समय भगवान नन्द का पुत्र होता है, उस समय नन्द का कार्य करता है।

नन्दादिलोक दही-दुध आदि की चोरी करते हैं, इसलिये हमारे मन की चोरी करने में अत्यन्त विरोध नहीं है।

यदि कहो कि गोपियों! तुमने अपने मन की रक्षा क्यों नहीं की?

इसके उत्तर में पक्षान्तर कहते हैं। (अथवा) भगवान गोपियों के पति हैं, पतिका नाम नहीं लिया जाता है, इस प्रकार स्मृति कहती है—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥' अपना नाम, अपने गुरुजनों का नाम, अत्यन्तकृपण का नाम और बड़े पुत्र का नाम, अपनी स्त्री का नाम, श्रेय की इच्छा करनेवाला पुरुष नहीं ले। इत्यादि शास्त्ररीति के अनुसार गोपियों ने अपने पति भगवान् का नाम न लेकर 'नन्दसूनुः' नन्द का पुत्र कहा है।

उक्त कहने से यह भी मालूम होता है, कि जबतक मन हरण नहीं किया था, तबतक भगवान् को गोपियों ने प्रभु-स्वामी का पुत्र जाना था, चोर नहीं जाना था, कारण कि स्वामी-पुत्र चोरी नहीं करता है। किन्तु मनहरण करने के अनन्तर भगवान् चोर है, गोपियाँ जान गईं।

यदि भगवान् चोर नहीं है, इस प्रकार मान लिया जाये तो भोग का त्याग करके क्यों चला जाता? भोग त्याग करके चला जाना ही भगवान् को चोर सिद्ध करता है, यदि कहो कि भगवान् ने भीतर स्थित गोपियों का मन कैसे हरण कर लिया?

इसके उत्तर में कहते हैं कि, तीन प्रकार का मन गोपियों का भगवान् ने तीन धर्मों से ग्रहण कर लिया, इस बात को आगे कहते हैं। (प्रेमहासावलोकनैः) प्रेमपूर्वक हास्यसहित अवलोकन से भगवान् ने मन का हरण कर लिया है। इस जगह तम, रज, और सत्त्व, तीनों भावों का वर्णन किया है, प्रेम तमभाव है, हास्य रजभाव है और अवलोकन सत्त्वभाव है।

जिसका मन जिस प्रकार का था, उसका मन भगवान् ने उसी प्रकार से हरण कर लिया। अर्थात् तमःप्रधान मन को प्रेम की प्रधानता से भगवान् हरण करता है, और रज तथा सत्त्व-प्रधान मन को हास्य, और अवलोकन से हरण करता है। प्रेम से भीतर प्रवेश करता है, हास्य से मन का ग्रहण करता है, और अवलोकन से हरण करता है॥ ५॥

(सुबो०)तेषामनुत्तरं मत्वा, एते अमुख्यफला महान्तोऽपि काकसेव्या एवेति, ये महान्तः पुष्पवन्तः सुगन्धाः, तान् पृच्छाम इति कुरबकादीन् पृच्छन्ति कच्चिदिति।

उक्त पीपर, पाकर और वट, इन वृक्षों ने उत्तर नहीं दिया, तब गोपियां विचार करती हैं, कि इन वृक्षों का फल मुख्य उपयोगी नहीं है, और ये वृक्ष बड़े भी हैं, किन्तु कौओं के सेवन करने योग्य ही हैं, इसलिये जो वृक्ष बड़े, और सुगन्धित पुष्पवाले हैं, उनके प्रति पूछें, इस प्रकार विचार करके कुरबक आदि वृक्षों के प्रति गोपियां पूछती हैं।

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः॥ ६॥

पदपदार्थ—(हे कुरबक!) कटसरैया का वृक्ष लाल फूलवाला कुरबक है, (हे अशोक!) (हे नाग!) (हे पुन्नाग!) (हे चम्पक!) ये सब वृक्ष पुष्पविशेष हैं। (मानिनीनां) मानवती स्त्रियों का (दर्पहरस्मितः) गर्व हरनेवाला स्मित जिसका है। (रामानुजः) बलदेवजी का छोटा भाई। (गतः) गया है। (कच्चित्) प्रश्न संभावना में॥ ६॥

भाषार्थ—हे कुरबक! हे अशोक! हे नाग! हे पुन्नाग! हे चम्पक! मानिनी स्त्रियों के गर्वहर स्मितवाला बलभद्र का छोटा भाई गया, आपने देखा है क्या?॥ ६॥

(सुबो०) कुरबकाशोकौ कामोद्दीपकौ । एते कामबाणपुष्पाः । नागो नागकेसरः, पुन्नागः चम्पकश्च अतिसुगन्धपुष्पाः । ते हि कामिनं व्यावर्तयन्ति । अतः पश्चाप्येते ज्ञास्यन्तीति । रामानुजः कच्चिद्भवद्भिर्दृष्ट इति पृच्छन्ति । पूर्ववदेव प्रयोजनकथनम् । मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य । व्यर्थमेव गतो भगवान्, स्मितमात्रेणैव दर्पो गच्छति, किं गमनेन । भयं तु नास्त्येव, यतो रामानुजः बलभद्रभ्राता, भर्तृनाम न ग्राह्यमिति । वयं सर्वा एव मानिन्यः स्थिताः । अतोऽस्मद्दर्पदमनार्थं गतः । प्रायेणैतैर्न दृष्टः । कुत्सितरवात् कं सुखं यस्य । रोदनप्रियोऽयम् । अशोकश्च शोकनाशक एव, न तु कस्यचित् सुखं प्रयच्छति । नागोऽयं नाम्नैव भयानकः । गजपक्षेऽपि पुंसामपि नागः । चम्पकोऽपि परिणामविरसः । अफलाश्चैते ॥ ६ ॥

कुरबक और अशोक, ये दोनों वृक्ष कामोद्दीपक हैं, और कुरबक आदि वृक्षों के पुष्प कामदेव के बाण हैं।

नाग नागकेसर है, नागकेसर, पुन्नाग, और चम्पक, ये अतिसुगन्धित पुष्पवाले वृक्ष हैं, ये वृक्ष कामी पुरुष को अन्य कार्य से हटाते हैं, अर्थात् इन वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से कामी पुरुष अन्यत्र नहीं जाते हैं, इनकी सुगन्ध से मुग्ध हो जाते हैं, इसलिये ये पांचो वृक्ष भगवान् को जानते होंगे, इस प्रकार विचार करके गोपियां प्रश्न करती हैं, कि राम के छोटे भ्राता को आपने क्या देखा है ?

पहले श्लोक में गोपियों ने भगवान् हमारा मन हरण करके गया है, इस प्रकार प्रश्न करनेका प्रयोजन बतलाया है, उसी प्रकार इस श्लोक में भी मनहरण करके जाने का प्रयोजन बतलाया है।

भगवान् मानिनी स्त्रियों का दर्पहरस्मितवाला है, फिर व्यर्थ ही गया, अर्थात् जब भगवान् के स्मितमात्र से ही दर्प दूर हो जाता है, तो फिर भगवान् के जाने का कारण क्या है!

भगवान् को किसी का भय तो है ही नहीं, कारण कि रमण का अधिकरण क्रियाशक्तिप्रधान बलभद्र आपका भ्राता है, इसलिये रस की च्युति होने का भय नहीं है। पति का नाम नहीं लेना चाहिये, इसीलिये गोपियों ने 'रामानुज' कहा है। गोपियों ने पति का नाम नहीं लिया, इसलिये यह वाक्य कुमारिकाओं का सूचित होता है।

हम सभी मानवती हैं, इसीसे भगवान् हमारे दर्प को दमन करने के लिये गये हैं, गोपियां कहती हैं, कि प्रायः इन वृक्षों ने भगवान् को नहीं देखा है, कारण कि 'कुरबक' को कुत्सित रव से सुख होता है, अर्थात् इस 'कुरबक' को रोना अच्छा लगता है, और यह 'अशोक, शोकनाश करनेवाला ही है, किन्तु किसी को सुख नहीं दे सकता है। यह नाग, नाम से ही भयानक है। नाग का अर्थ हाथी किया जाये तो पुरुषों में नाग पुन्नाग होता है। चम्पक भी परिणाम में विरस-रसरहित हो जाता है।

इस प्रकार गोपियां उक्त वृक्षोंमें दोषों का वर्णन करके, एक दोष और भी कहती हैं कि इन वृक्षों में फल नहीं हैं॥ ६ ॥

(सुबो०) पूर्वोक्तास्त्वपुष्पाः, एते अफलाः । फलपुष्पाभ्यां नानाविधविनियोगसंभवादज्ञानं मत्वा, तुलस्यास्तदुभयं नास्तीति भगवदीयत्वेन प्रसिद्धां पृच्छन्ति कच्चिदिति ।

जिस जगह आकृति होती है, उस जगह गुण रहते हैं. इस न्यायानुसार वृक्षों में पुष्प शोभा देनेवाले होते हैं, इसलिये जिन वृक्षों में पुष्प नहीं हैं, उनमें गुण-शोभा भी नहीं होती है। पांचवें श्लोक में वर्णित वृक्षों में पुष्प नहीं हैं, और छठे श्लोक में वर्णित वृक्षों में फल नहीं हैं, जिन वृक्षों में फल नहीं हैं, उनवृक्षों से पूछने से प्रश्न भी निष्फल हो जाता है।

और यदि केवल पुष्पफल का भगवान् में ही विनियोग होता, तो कदाचित् वृक्षों को भगवत्सम्बन्धी ज्ञान होता, किन्तु फल तथा फूल का अनेक प्रकार से अन्यत्र विनियोग होने से अन्य सम्बन्ध भी सम्भव होता है, इसलिये उक्त वृक्षों को भगवान् के विषय में अज्ञान ही है।

इस प्रकार गोपियां जानकर, तुलसी में जो पुष्पकृत तथा फलकृत द्विविध विनियोग है वह अन्यत्र नहीं है, भगवान् में ही है, इसलिये भगवदीयत्व से प्रसिद्ध तुलसी से गोपियां प्रश्न करती हैं।

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।
सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रत् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(हे तुलसि) (हे कल्याणि) हे सौभाग्यवाली (हे गोविन्दचरणप्रिये) हे गोविन्दचरण प्रियवाली (अलिकुलैः) भ्रमरों के समूह के (सह) साथ (त्वा) तुझको (बिभ्रत्) धारण करते हुए (ते) तुम्हारे (अतिप्रियः) अत्यन्त प्यारे (अच्युतः) च्युतिरहित भगवान् (त्वया) आपने (दृष्टः) देखा है क्या ? (कच्चित्) प्रश्नसम्भावाना में ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे तुलसि, हे कल्याणि, हे गोविन्दचरणप्रिये, भ्रमर समूह के साथ तुझको धारण करनेवाले, तुम्हारे अतिप्रिय अच्युत भगवान् का तुमने देखा है क्या ? ॥ ७ ॥

(सुबो०) तुलसीति सम्बोधनं सखीमिव मत्वा । सा चेत् पूर्वसम्बन्धस्मरणेन भक्तेव भगवन्तं भजेत्, तदा रसो न पुष्ट इति तां भगवत्पत्नीं मन्यमाना आहुः कल्याणीति । एवमपि सति भक्तिप्रधानेत्यस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टेत्याहुः गोविन्दचरणप्रिय इति । किञ्च, तव दर्शने उपायोऽप्यस्ति । त्वत्सजातीयस्य तत्र विद्यमानत्वात् । सजातीयो हि सजातीयं मार्गस्थं दृष्ट्वा गच्छति । तदाहुः । अलिकुलैः सह त्वा त्वां बिभ्रत् दृष्ट इति । किञ्च, ते भगवानत्यन्तं प्रियः, यद्यनेन मार्गेण गतः स्यात्, अवश्यं त्वया दृष्टः स्यादिति ॥ ७ ॥

हे तुलसि ! यह सम्बोधन गोपियों ने तुलसी को सखी की तरह मानकर किया है। यदि तुलसी पूर्व सम्बन्ध का स्मरण करके भक्त की तरह भगवान् का भजन करे, तो रस पुष्ट नहीं हो, अर्थात् पहले तुलसी भक्तत्व से निष्काम हो निरन्तर भगवान् के चरणारविन्द का सेवन करती हुई स्थित थी, इसीलिये लक्ष्मी आदि को भी पूजा का साधन थी, नहीं तो सपत्नी जानकर लक्ष्मी आदि पूजा में साधन नहीं करतीं। इस समय भी यदि तुलसी उक्त भाव से भजन करती है, तो फिर तुलसी को नायिकात्व से जो रस अनुभव होता है, उस रस का अनुभव नहीं होता।

गोपियां कहती हैं कि तुलसी हमारी रीति को न जानकर (चुपचाप बैठी है) अर्थात् अपना आशय चरण-सेवा प्रकाश करती स्थित है। इसलिये गोपियां तुलसी को भगवान् की पत्नी मानकर कहती हैं कि (कल्याणि) हे सौभाग्यवति ! इस प्रकार सौभाग्यवती होते हुए भी तुलसी में भक्ति की प्रधानता है, इसलिये हमारी अपेक्षा उत्तम है।

अवस्थाविशेष से गोपियों में दैन्य का आविर्भाव हो गया है, इस भाव को ज्ञापन करने के लिये यहां गोपियों ने तुलसी को उत्तम बतलाया है, नहीं तो सपत्नी जान करके भी तुलसी से गोपियां नहीं पूछतीं, यह भाव है।

गोपियां अपने से उत्तम तुलसी को कहती हैं (गोविन्दचरणप्रिये) हे तुलसी तुम को गोविन्द के चरण अत्यन्त प्यारे लगे हैं।

दूसरी बात यह है कि तुम्हारे पास भगवान् के दर्शन करने का उपाय भी है। कारण कि तुम्हारी सजातीय अन्य वस्तु भी वहां विद्यमान है। 'जो सजातीय होता है, वह मार्ग में स्थित सजातीय—अपने समान को देखकर ही जाता है, अर्थात् लोक में जब कोई अन्यत्र जाता है, तब मार्ग में स्थित अपने सम्बन्धियों से मिलकर ही जाता है, भगवान् के चरण में स्थित तुलसी सजातीय है, इसलिये भगवान् तुमसे मिले बिना नहीं गया होगा, इस बात को गोपियां कहती हैं। (अलिकुलैः सह त्वा त्वां बिभ्रत् दृष्टः) भ्रमर समूह के साथ तुमको धारण किये भगवान् को देखा है। गोपियां तुलसी के दर्शन में अन्य भी कारण बतलाती हैं कि तुमको भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं, प्यारा अपनी प्रिया से मिले बिना नहीं जाता है।

यदि इस मार्ग से भगवान् गया होगा, तो अवश्य तुमने देखा होगा॥ ७॥

(सुबो०) तत्राप्यरुचिं मत्वा, इयं सपत्नीवत् स्वोत्कर्षं ख्यापयन्ती कथमन्याभ्यो वक्ष्यतीति, साधारण्यः स्त्रिय एवास्माकमुपकारिण्य इति, ताः पृच्छन्ति मालतीति।

गोपियों ने तुलसी से प्रश्न किया, और जब उत्तर नहीं मिला, तब गोपियों ने जाना कि यह सपत्नी की तरह अपना उत्कर्ष सूचन करती है, फिर कैसे अन्य स्त्रियों से कहेगी। इस प्रकार तुलसी में भी अरुचि मानकर, गोपियों ने विचार किया कि साधारण स्त्रियां ही हमारा उपकार करनेवाली हैं, इसलिये साधारण स्त्रियां मालती आदि से पूछती हैं।

मालत्यदर्शि वः कच्चित् मल्लिके जाति यूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥ ८॥

पदपदार्थ—(हे मालति) (हे मल्लिके) मोतिया (हे जाति) जाही (हे यूथिके) जुही (वः) तुमको (करस्पर्शेन) हस्त के स्पर्श से (प्रीतिं) प्रीति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (माधवः) लक्ष्मीसहित भगवान् (यातः) गया है (वः) तुमने (अदर्शि) देखा है (कच्चित्) प्रश्न सम्भावना में॥ ८॥

भाषार्थ—हे मालती, हे मल्लिका, हे जाही, हे जुही, तुमको हस्तस्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ माधव गया है, उसे तुमने देखा है क्या ! ॥ ८॥

(सुबो०) हे मालति, वः युष्माभिः प्रत्येकं नानारूपाभिः दृष्टः कच्चित्। तथैव मल्लिके, हे जाति, हे यूथिके। एताश्चतस्रो लताः अतिसुगन्धपुष्पाः भगवत्प्रियाः। अतः वः युष्माकं करस्पर्शेन प्रीतिं जनयन् पुष्पावचयं कुर्वन् माधवो लक्ष्मीसहितः। लक्ष्म्या सह तिष्ठति, अतस्तस्याः चूडाबन्धनार्थं पुष्पावचय आवश्यक इति॥ ८॥

हे मालति ! तुम सब प्रत्येक नाना रूपवालियों ने भगवान्‌को देखा है क्या ? इसी प्रकार हे मल्लिके—मोतिया, हे जाति, हे यूथिके, तुम सब ने भगवान् को देखा है क्या ! ये चारो लता हैं, इनके अतिसुगन्धित पुष्प हैं और भगवान् को प्रिय लगती हैं। इसलिये तुमको हस्तस्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ, अर्थात् तुम्हारे फूलों को लक्ष्मीसहित भगवान् चुनकर स्पर्श से प्रीति उत्पन्न करता हुआ लक्ष्मी के साथ स्थित है, इसलिये लक्ष्मीजी का चूडा-केश बन्धन करने के लिये पुष्पों का इकट्ठा करना आवश्यक है, अतः तुमने भगवान् को देखा है ! ॥ ८॥

(सुबो०) ननु यद्यप्येताः स्त्रियः, तथाप्यफला इति, अल्पा इति, स्वार्थपरा इति, लक्ष्मीपक्षपातिन्य इति न वदिष्यन्तीति ज्ञात्वा आम्रादीनत्युत्तमान् वृक्षान् पृच्छन्ति चूतेति।

यद्यपि पहले कही गयी मालती आदि लताएं स्त्रियां हैं, तथापि फलरहित हैं, और अल्प हैं। छाया आदि से इनमें परार्थता नहीं है, स्वार्थपरता है तथा लक्ष्मीजी का पक्षपात करनेवाली हैं। अर्थात् धनवालों में ही इनका उपयोग होता है। इसलिये हमसे नहीं कहेंगी। इस प्रकार गोपियां जानकर अति उत्तम आम्र आदि के वृक्षों को पूछती हैं।

चूतप्रियालपनसासनकोविदार-
जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥ ९॥

पदपदार्थ—(हे चूत) हे आम (हे प्रियाल) हे चिरौंजी (हे पनस) हे कटहर (हे असन) हे विजयसार, दुपहरियाकासा फूलवाला (हे कोविदार) हे कचनार (हे जम्बु) हे जामुन (हे अर्क) सूर्यकासा फूलवाला वृक्ष (हे बिल्व) हे बेल (हे बकुल) हे मौलसरी (हे आम्र) हे आम, आम पुनः जातीय भेद से कहा है। (हे कदम्ब) (हे नीप) इन दोनों में पहला फूलप्रधान है, और दूसरा फलप्रधान है। तथा (ये) जो (अन्ये) और सब महुआ आदि वृक्ष (हे परार्थभवकाः) अन्य लोकों के उपकार के लिये जन्मवाले ! (हे यमुनोपकूलाः) यमुनातटपर स्थिति करनेवाले (रहितात्मनां) आत्मरहित (नः) हमारे लिये (कृष्णपदवीं) सदानन्द भगवान् के मार्ग को (शंसन्तु) बताओ॥ ९॥

भाषार्थ—हे आम, हे चिरौंजी, हे कटहर, हे विजयसार, हे कचनार, हे जामुन, हे अर्क-सूर्य के-से आकारवाले फूलवाला वृक्ष, हे बेल, हे मौलसरी, हे आम्र, हे कदम्ब, हे नीप ! तथा अन्य महुआ आदि पराये अर्थ के लिये जन्म लेनेवाले हे यमुनातट पर रहनेवाले वृक्षो ! आत्मरहित हमारे लिये भगवान् का मार्ग बतलाओ॥ ९॥

(सुबो०) चूताम्रौ मधुराम्लप्रकृतिकौ। कालभिन्नफलौ वा। प्रियालस्तु बीजेप्यधिकरसयुक्तः। पनसो महाफलः। अन्ये चासनादयो वृक्षाः पुष्पफलप्रधानाः। किं बहुना। अन्येऽपि ये मधूकादयः। परार्थमेव जन्म येषां ते परार्थभवकाः। किञ्च, यद्यपि सर्व एव वृक्षाः परार्थजन्मानः, तत्रापि ये यमुनोपकूलाः, यमुनाया

उपकूले तपस्विन इव तिष्ठन्ति, ते ह्यवश्यं भगवन्तं पश्यन्ति बोधयन्ति च। अतः सदानन्दस्य पदवीं शंसन्तु। यथास्मद्धृदये समायाति। दयार्थमाहुः रहितात्मनामिति। केचित् गृहरहिताः धनरहिताः देहरहिता वा। वयं त्वात्मरहिता एव। अतः सर्वापेक्षया वयं दीनाः। अतः कृष्णपदवीमस्मदर्थे शंसन्तु॥ ९॥

चूत-मीठा आम, आम्र-कुछ खट्टा आम, इस प्रकार दोनों में भेद है, इसलिये इस श्लोक में दो बार एक ही वृक्ष कहा है। अथवा कालभेद से पृथक्-पृथक् समय पर फल आनेवाले वृक्ष दो कहे गये हैं। प्रियाल-चिरौंजी तो बीज में भी अधिक रसयुक्त है, पनस-कटहर बड़े फलवाला वृक्ष है, अन्य असनादि वृक्षों में पुष्प-फलप्रधान है, अर्थात् किसी वृक्ष में पुष्पप्रधान और किसी में फल प्रधान है। बहुत क्या कहा जाय, और भी जो मधूक-महुआ आदि वृक्ष हैं उन्होंने पराये अर्थ ही जन्म लिया है।

यद्यपि सभी वृक्ष परार्थ जन्म लेने वाले हैं, तथापि जो वृक्ष यमुनाजी के समीप तीर पर तपस्वियों की तरह स्थित हैं, वे अवश्य भगवान् का दर्शन करते हैं, और दूसरों को भी बोध करते हैं, इसलिये हे वृक्षो! आप सदानन्द का मार्ग बतलाओ।

जिस प्रकार के बोध से हमारे हृदय में भगवन्मार्ग प्राप्त हो, अर्थात् भगवान् जिस मार्ग से गया है, उसका ज्ञान हो जाये।

वृक्ष दया करके हमको भगवान् का मार्ग बतलायेंगे, इसके लिये गोपियां कहती हैं। (रहितात्मनामिति) कुछ लोग घररहित होते हैं, कुछ लोग धनरहित होते हैं, और कुछ देहरहित होते हैं, किन्तु हम सब तो आत्मरहित ही हैं। इसलिये सब की अपेक्षा हम सब दीन हैं, आप सबका पराया अर्थ करने के लिये जन्म है, हम सब दीन दया करने के पात्र हैं, इसलिये कृष्ण के जाने का मार्ग हमारे लिये बोध करो॥ ९॥

(सुबो०) एवमतिविलापे दीनतायामाविष्कृतायां भूमौ भगवच्चरणारविन्दानि दृष्टानि, तदा भूमिं स्तुवन्ति किं ते कृतमिति।

इस प्रकार जब गोपियों ने अत्यन्त विलाप किया, और उनकी दीनता प्रकट हुई, तब भूमि में भगवान् के चरणारविन्दों का दर्शन हुआ, उस समय गोपियां भूमि की स्तुति करती हैं।

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥ १०॥

पदपदार्थ—(हे क्षिति) हे पृथिवी (ते) तूने (किं) कौन सा (तपः) तप (कृतं) किया है, (बत) खेद में, अर्थात् हमने इस प्रकार का तप नहीं किया, इस बात को सूचन करती गोपियाँ खेद प्रकट करती हैं। (केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैः) केशव के चरणस्पर्श से उत्सव और उत्पुलकित-ऊँचे उठे हुये रोमांचों से (विभासि) तू शोभित हो रही है। (अपि) संभावना में (अंघ्रिसंभवः) केशव के चरणस्पर्श से उत्सव हुआ है, (वा) अथवा (उरुक्रमविक्रमात्) त्रिविक्रम का विक्रम, पदन्यास से हुआ है (आहो) अथवा (वराहवपुषः) वराह शरीर भगवान् के (परिरम्भणेन) आलिङ्गन से हुआ है॥ १०॥

भाषार्थ—हे पृथिवी! तूने कौन सा तप किया है, हमको खेद होता है, केशव भगवान् के चरण स्पर्श से उत्सव और उत्पुलकित रोमाञ्चों से तू विशेष शोभित हो रही है, इस प्रकार उत्सव क्या भगवान् के चरणस्पर्श आदि से हुआ है, अथवा वामन जी के पदन्यास से, अथवा वाराह भगवान् के आलिङ्गन से हुआ है॥ १०॥

(सुबो०) हे क्षिति! ते त्वया किं वा तपः कृतम्। अस्माभिरपि तपः कृतमेव, परं नैवं फलमनुभूतम्। सर्वथा पुण्यव्यतिरेकेण नेष्टसिद्धिः। सुतरां भगवल्लक्षणा। स्वस्य तदभावमाशङ्क्य बतेति खेदे। न केवलं तव पादसम्बन्धमात्रम्, किन्त्वन्येऽपि भावा दृश्यन्त इत्याहुः। केशवस्य ब्रह्मादेरपि मुक्तिदातुः ब्रह्मप्रार्थितचरणारविन्दस्य अंघ्रिस्पर्शेन उत्सवो यस्याः। स्वेदो दृश्यत एव, अन्यथा दूर्वापदानि स्पृष्टानि न भवेयुः। अन्योप्युत्सवो दृश्यते, उत्पुलकिता च। सर्वत्र उत्पुलकिताङ्गङ्कुरा उत्थिता इति अङ्गरुहैः रोमाञ्चैः कृत्वा विशेषेण भासि। उत्पुलकिताङ्गङ्कुरा उत्थिता इति अङ्गरुहैः रोमाञ्चैः कृत्वा विशेषेण भासि।

और भी उत्सव दीख रहा है, जिससे तुममें उत्पुलक रोमाञ्च हो रहे हैं, सर्वत्र दूबके अंकुर उत्पन्न हुए हैं, अङ्गरुह-रोमाञ्चों से विशेष करके तू शोभित हो रही है। अथवा, उत्पुलकित खड़े हुए अङ्गरुह-रोमाञ्चों से, अथवा चरणस्पर्श से उत्सवों वाली तू शोभित हो रही है।

यदि कहो कि पृथिवी में तो सर्वत्र ही रोमाञ्च-रोगटा दीखते हैं, केशव भगवान् के चरणस्पर्श से ही यदि रोमांच होते तो पृथिवी के एकदेश में ही पसीना की तरह दीखते, अतः केशव के चरणस्पर्श से रोमांच नहीं हुए। इस शंका के उत्तर में गोपियाँ अन्य कारण की उत्प्रेक्षा करती हैं। (अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वेति) अपि का अर्थ संभावना है, गोपियों को इस समय पहले जो भगवान् का चरणस्पर्श पृथिवी को हुआ था, उसका स्मरण हुआ है।

पहले जो पृथिवी को भगवान् का चरणस्पर्श हुआ था, वह तो सर्वत्र पृथिवी में व्याप्त हो गया था, इसलिये उस चरण से उत्पन्न उत्सव आनन्द क्या उरुक्रम-तीन पद पृथिवी नापने वाले वामन भगवान् के चरणस्पर्श से तुमको प्राप्त हुआ है।

गोपियों को पृथिवी के लिये आनन्दप्राप्ति में उक्त प्रकार का भी निश्चय नहीं हुआ, कारण कि विना संभोग के केवल चरण सम्बन्ध मात्र से सात्त्विक भावरूप उत्सव-रोमाञ्च नहीं हो सकते हैं, इस बात का विचार कर गोपियां पक्षान्तर-अन्य कारण कहती हैं। (आहो वराहवपुषः परिरम्भणेनेति) अथवा वाराह अवतार धारण करनेवाले भगवान् के आलिङ्गन द्वारा तुमको आनन्द प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार वर्णन करके गोपियों ने पृथिवी को अपने समान कहा है ॥ १० ॥

(सुबो०) एवं स्थावरान् पृष्ट्वा जङ्गमान् पृच्छन्ति अपीति ।

इस प्रकार स्थावर-वृक्ष आदि से पूछकर गोपियां जङ्गम-चलनेवाले प्राणियों से पूछती हैं।

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै-
स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(अपि) प्रश्न में (हे एणपत्नि) कृष्णमृग की पत्नि (हे सखि) हे सखी (इह) यहां (प्रियया) प्यारी के साथ (उपगतः) मिलकर गया (गात्रैः) शरीर के अवयवों से (वः) तुम सबके (दृशां) नेत्रों को (सुनिर्वृतिम्) आनन्द को (तन्वन्) देता हुआ (अच्युतः) भगवान् (दृष्टः) (कच्चित्) देखा है क्या (कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः) कान्ता के अङ्गसङ्ग में जो कुचों में कुंकुम लगा है, उस कुंकुम से रँगी हुई। (गोकुलपतेः) गोकुलनाथ संबन्धिनी (कुन्दस्रजः) कुन्दपुष्प माला की (इह) इस स्थान में (गन्धः) गन्ध (वाति) चल रही है, अर्थात् सुगन्धित वायु आ रही है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे मृगपत्नी, हे सखी यहां प्रिया के साथ मिलकर गया, और अपने शरीर के अवयवों से तुम्हारे नेत्रों को आनन्द देता हुआ अच्युत भगवान् को क्या आपने देखा है। कारण कि कान्ता के अङ्गसङ्ग में जो कुचों में कुंकुम लगा है, उससे रँगी गोकुलपति सम्बन्धिनी कुन्दपुष्प माला की इस स्थान में गन्ध आ रही है ॥ ११ ॥

(सुबो०) हे एणपत्नि कृष्णसारपत्नि, प्रियया कयाचित् लक्ष्म्या अन्यया वा उपगतः मिलितः स्त्रीसहितः, अनेन मार्गेण गच्छन्, स्वगात्रैः स्वावयवैः, भवतीनां दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् दृष्टः कच्चित् । अनेनैव मार्गेण गत इति चरणारविन्ददर्शनात् निश्चीयते । यदि दृष्टो भवेत्, तदा अस्माभिरपि द्रष्टुं शक्यत इति । त्वं त्वन्यस्य पत्नी अस्माकं च सखी भवसि । अत आहुः हे सखीति । सखित्वं कृष्णानुरक्त्या, नेत्रतुल्यत्वेन भीरुत्वादिधर्मैः । अन्यथा भवतीनां विकसितनयनानि न भवन्तीति । ननु कृतलीलः किमिति प्रार्थ्यते, तत्राहुः अच्युत इति । ननु कथं ज्ञायते प्रियया उपगत इति, तत्राहुः कान्तेति । कान्ताया अङ्गसङ्गे यत्कुचयोः कुंकुमं तेन रञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्पमालायाः गोकुलपतेः सम्बन्धिन्या इह गन्धो वाति । आर्द्रश्च गन्धः आर्द्रं कुंकुमं ज्ञापयति । सात्त्विकभावादेवार्द्रता। अतो ज्ञायते प्रियया सङ्गत इति ।

हे एणपत्नि, कृष्णसारमृग की स्त्री, प्रिया के साथ—लक्ष्मी के साथ, अथवा किसा अन्य स्त्री के साथ मिलकर, अर्थात् स्त्रीसहित इस मार्ग से जाते हुए, तथा अपने शरीर के अवयवों से तुम्हारे नेत्रों को अति आनन्द देते हुए भगवान् को क्या आपने देखा है। यहां 'कच्चित्' सम्भावना अर्थ में है।

भगवान् इसी मार्ग से गया है, इसका हमको उनके चरणारविन्द के दर्शन से निश्चय होता है।

यदि आपने भगवान् का दर्शन किया हो तो हम भी दर्शन कर सकती हैं, आप तो अन्य की पत्नी, और हमारी सखी हो, इस बात को गोपियां कहती हैं, (हे सखीति)।

मृगपत्नी को सखी कहने का कारण यह है कि कृष्ण में अनुराग मृगपत्नियां और गोपियां दोनों का ही था, और दोनों को ही भय था।

गोपियों की तरह हरिणियों को भी भगवान् के गात्रों से आनन्द प्राप्त हो रहा था, दोनों के नेत्रतुल्य हैं। यदि हरिणियों को भगवान् का दर्शन नहीं होता तो इनके नेत्र विकसित-प्रफुल्लित नहीं होते।

हरिणियों के नेत्र आनन्द से विकसित हैं, इसलिये स्पष्ट होता है कि हरिणियों ने भगवान् का दर्शन किया है।

यदि कहो कि भगवान् ने आपके साथ पहिले लीला की है, पुनः अब प्रार्थना क्यों करती हो ? इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं। (अच्युतः) भगवान् अच्युत है, पहले लीला करने पर भी च्युतिरहित ही है।

यदि कहो कि प्रिया के साथ भगवान् गया है, इस बात को तुम कैसे जानती हो ? तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं (कान्तेति) सुख का अन्त जिसमें, वह कान्ता, प्रियतमा के अङ्ग का सङ्गम होने में उसके कुचों में जो कुङ्कुम लगा है, उस कुङ्कुम से रञ्जित (रँगी) गोकुलपति सम्बन्धिनी कुन्दपुष्पमाला की गन्ध इस स्थान पर आ रही है। गन्ध आर्द्र, गीली है, वह कुङ्कुम का ज्ञापन कर रही है, सात्त्विक भाव से ही आर्द्रता होती है, इसलिये ज्ञात होता है भगवान् प्रिया के साथ है ॥ ११ ॥

(सुबो०) एवं हरिणपत्नीं दृष्ट्वा इयं भर्तृसमीपे वक्तुमशक्तेति पूर्वं भगवत्स्तुतान् वृक्षान् पृच्छन्ति बाहुमिति ।

इस प्रकार हरिणपत्नी को पूछकर गोपियां विचार करती हैं कि यह अपने पति के समीप में है, इसलिये बोल नहीं सकती है, इसको पूछना व्यर्थ है ।

अब गोपियां पहले बारहवें अध्याय में भगवान् ने जिन वृक्षों की स्तुति की थी, उन वृक्षों से पूछती हैं ।

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो
रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं
किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

पदपदार्थ—(हे तरवः) हे वृक्षो ! (प्रियांसे) प्यारी के कंधे पर (बाहुं) एक हस्त को (उपधाय) धारण करके (गृहीतपद्मः) दूसरी भुजा में कमल धारण किये (रामानुजः) बलदेवजी का छोटा भाई (मदान्धैः) मद से अन्ध (तुलसिकालिकुलैः) तुलसी सम्बन्धी भ्रमर समूह द्वारा (अन्वीयमानः) जिनके पीछे भ्रमर समूह जा रहा है, इस प्रकार के भगवान् (इह) यहां (चरन्) डोलते (प्रणयावलोकैः) प्रणयपूर्वक अवलोकनों से (वः) तुम सबके (प्रणामं) प्रणाम को (अभिनन्दति) अभिनन्दन करता है (किं) क्या (वा) अथवा नहीं ॥ १२ ॥

भाषार्थ—हे वृक्षो ! प्रिया के कन्धे पर एक भुजा धर कर, दूसरी भुजा में कमल धारण किये तुलसी सम्बन्धी भ्रमरों का समूह जिसके पीछे जा रहा है, वह राम का छोटा भाई प्रणयपूर्वक अवलोकनों से तुम्हारा प्रणाम यहां जाता हुआ क्या स्वीकार करता है ? ॥ १२ ॥

(सुबो०) प्रियाया अंसे बाहुमुपधाय द्वितीयेन हस्तेन गृहीतपद्मः रामानुजो निर्भयः तुलसिकायाः सम्बन्धिनो येऽलयः तेषां कुलैः कृत्वा अन्वीयमानः पश्चाद् गम्यमानः । हे तरवः । पूर्वं भगवता भक्तत्वेन स्तुताः, अतो भवद्भिः कृतं प्रणाममिहैव किमभिनन्दति, न वेति प्रश्नः । प्रियांसे बाहुमुपधायेति समतया गमनेन लक्ष्यते । उभयोः पदानां पङ्क्त्याकारेण गमनात् । कदाचित्पदानां चाञ्चल्येन भ्रमरोपरुद्धगत्या तन्निवारणार्थं यत्नो लक्ष्यते । तरवश्च नम्राः, नमस्कारार्थमेव फलोपहारं कृत्वा भूमिसम्बद्धशिरसो जाताः । अतो ज्ञायते प्रणामः कृत इति । अनुत्थानात्संदेहः अभिनन्दति न वेति । अनभिनन्दने हेतुः चरन्निति । यो हि गच्छति, सः अनवहितोऽपि भवति । ननु निकट एव स गच्छति । यद्यभिनन्दनं कृतं स्यात्, तदैव श्रूयेत, कथं संदेह इति चेत्, तत्राहुः प्रणयावलोकैरिति । प्रणयपूर्वकमवलोकैः, न तु वाचा । अतो ये निकटस्थाः, त एव जानन्ति नान्ये ॥ १२ ॥

भगवान् ने एक हस्त प्रिया के कंधे पर धरा है, और दूसरे हस्त में कमल धारण किया है, आप राम का बलदेवजी का छोटा भाई है, अतः निर्भय है और आप तुलसीजी के सम्बन्धी जो भ्रमर हैं, उनके समूहों करके अनुगम्यमान है, अर्थात् आपके पीछे भ्रमर गुञ्जार करते जा रहे हैं ।

(हे तरवः) हे वृक्षो ! तुम्हारी स्तुति पहले दशम स्कन्ध बारहवीं अध्याय श्लोक ५ में भगवान् ने परोपकारी भक्तत्व से की है, इसलिये तुम्हारे किये प्रणाम का भगवान् यहां ही अभिनन्दन करता है क्या ? अथवा नहीं करता है । इस प्रकार गोपियां वृक्षों से प्रश्न करती हैं ।

भगवान् प्रिया के कन्धे पर हस्त धर कर पधारे हैं, यह बात दोनों के समतयागमन से लक्षित होती है, अर्थात् भगवान् और स्वामिनीजी दोनों के चरणों का गमन बराबर हो रहा है ।

यद्यपि गोपियों को चरणचिह्न का दर्शन नहीं होता है, तथापि भगवद्भाव स्वभाव से ही इस लीला की स्फूर्ति हो रही है, अतएव भ्रमरों में तुलसी सम्बन्ध निरूपण किया है और इसके अनुसार ही भगवान् का देशान्तर में गमन भी नहीं हुआ ।

यद्यपि यहां दोनों के समानता से जा रहे चरणचिह्नों का दर्शन प्रिय की प्राप्ति में हेतु नहीं है, तथापि प्रिय के दर्शन करनेवाले प्रिय को बतला देंगे, तो प्रिय शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा, इस बात को जानकर ही गोपियां प्रश्न करनेवाली हुईं ।

भगवद्भाव के अनुभाव से लीलास्फूर्ति होने पर भी गोपियां सावधान नहीं थीं, पदचिह्नों का दर्शन होने पर भी उस मार्ग से नहीं गईं । इसलिये गोपियों को यथार्थ ज्ञान न होने के कारण उत्प्रेक्षा रीति से ही 'प्रिया के कन्धे पर हस्त कमल धरना' आदि का गोपियों को ज्ञान है ।

भगवान् ने गोपियों को पदचिह्न का दर्शन तीक्ष्णभाव शान्त करने के लिये ही कराया है, पदचिह्नदर्शन भगवदावेश कार्य नहीं है, इसीलिये गोपियों को सर्वलीला की स्फूर्ति नहीं हुई ।

भगवदावेश कार्य आगे 'व्यचक्षत वनोद्देशे' इस श्लोक में कहेंगे । इस आशय से आगे टिप्पणी में कहते हैं (किञ्च) ।

और जिस प्रकार आगे साथ में स्थित स्वामिनी के चरणचिह्न का पहले अदर्शन, और पीछे दर्शन हुआ, उसी प्रकार यहां भी एक स्थान में एक समय पदचिह्न का दर्शन हुआ है, आगे नहीं हुआ है । कारण कि तीक्ष्णभाव को शान्त करने के लिये ही पदचिह्नों का दर्शन भगवान् ने कराया है, इतने से ही तीक्ष्णभाव की शान्ति हो जाती है ।

जिस समय भगवान् कुछ शीघ्रगामी होता है, उस समय भ्रमर आपके गमन में रुकावट करते हैं, भ्रमरों को दूर करने के लिये भगवान् ने श्रीहस्त में कमल लिया है, इस प्रकार कमल द्वारा भ्रमरों को हटाकर गमन सम्भव होता है । भ्रमरों में मद का निरूपण किया है, मद संग के अभाव में हेतु है ।

मदवाले भ्रमरों के संग में मर्यादामार्गीय भक्तिरस से, अर्थात् कामरहित भक्तिरस से उत्पन्न ही मद होता है, इसलिये तुलसी का सम्बन्ध यहां कहा है ।

पुष्टिमार्गीय मद तो किसी को ही होता है, यदि पुष्टिमार्गीय मद होता तो 'अलिकुलैः' इस पद में कुलत्व का वर्णन नहीं करते, स्त्रीत्व का वर्णन करते, अतः पुष्टिमार्गीय मद नहीं है ।

भ्रमरों ने भगवान् के पीछे अवसर विना गमन किया, इसलिये मदान्धता निरूपण की है ।

इस प्रकार रसासक्त भगवान् का इतर को अनुसन्धान होना संभव नहीं होता है, तो फिर हमको मिलना भी दुर्लभ है, इस प्रकार जानकर गोपियां विचार करती हैं, कि यदि वृक्षों का

किया प्रणाम भगवान् अनुसन्धान करेगा, इस समय में भी तो कदाचित् हमारा भी अनुसन्धान करेगा। इसी आशय से गोपियों ने प्रश्न किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते, तो भ्रमरों को मद से अन्ध निरूपण करनेवाली गोपियों का वृक्षों द्वारा किये गये प्रणाम के अभिनन्दन का प्रश्नयुक्त नहीं होगा, यह भाव है।

वृक्ष नीचे नव गये हैं, अर्थात् वृक्षों ने भगवान् को नमस्कार करने के लिये फल भेंट करके पृथिवी में अपना मस्तक टेक दिया है, इससे मालूम होता है कि, वृक्षों ने भगवान् को प्रणाम किया है। वृक्षों ने पृथिवी में मस्तक टेककर फिर ऊंचा उठाया नहीं है, इसलिये गोपियों को संदेह होता है कि, (अभिनन्दति नवेति) वृक्षों के किये प्रणाम का भगवान् ने अभिनन्दन किया है, अथवा नहीं किया है।

भगवान् ने वृक्षों के किये प्रणाम का अभिनन्दन नहीं किया, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं (चरन्) भगवान् गमन करते हुये थे। जो कोई भी जाता है, वह विशेष ध्यान किये बिना ही जाता है, अर्थात् चलने में असावधान भी होता है।

यदि कहो कि भगवान् का गमन वृक्षों के निकट ही में ज्ञात होता है, यदि भगवान् ने वृक्षों का अभिनन्दन किया होता, तो उसी समय वृक्षों को श्रवणगोचर होता, फिर गोपियों को संदेह क्यों हुआ ?

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि, (प्रणयावलोकैः) प्रणयपूर्वक अवलोकन द्वारा। अर्थात् भगवान् ने यदि वृक्षों के प्रणाम का अभिनन्दन किया होगा, तो प्रणयपूर्वक अवलोकनों से दृष्टि द्वारा किया होगा, वाणी से नहीं किया होगा, इसलिये जो वृक्ष निकटवर्ती हैं, वे ही अभिनन्दन जानते हैं, अन्य नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

(सुबो०) ते ज्ञानिनो वृक्षाः स्त्रीभिः सह सम्भाषणं न करिष्यन्तीति तत्पत्न्या एव प्रष्टव्या इत्याहुः पृच्छतेमालता इति।

गोपियां कहती हैं, कि ये सब वृक्ष ज्ञानी हैं, स्त्रियों के साथ सम्भाषण नहीं करेंगे, अतः इनकी स्त्रियों से ही पूछना चाहिये, इस प्रकार विचार करके गोपियां वृक्षों की स्त्रियों से पूछती हैं।

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(वनस्पतेः) वृक्ष के (बाहून्) हस्तों को (अपि) भी (आश्लिष्टाः) आलिङ्गन करने वाली (इमाः) इन (लताः) लताओं को (पृच्छत) पूछो। (नूनं) निश्चय (तत्करजस्पृष्टाः) भगवान् के नख से स्पर्श की गईं (अहो) आश्चर्य है, ये लतायें (उत्पुलकानि) रोमाञ्चों को (बिभ्रति) धारण कर रही है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ये सब लतायें वृक्ष की बाहु से आलिङ्गित भी हैं, तो भी इनसे पूछो। निश्चय भगवान् के नखस्पर्श से रोमाञ्च धारण कर रही हैं ॥ १३ ॥

(सुबो०) वनस्पतेर्बाहुनाश्लिष्टा अप्येताः पृच्छत यद्यपि तासामप्यनवसरः ताश्च पुनर्भर्तृभुजालिङ्गिता अपि भगवत्करजैरेव नखैः स्पृष्टाः सत्यः उत्पुलकानि बिभ्रति। न हि रसान्तराविष्टानां रसान्तरार्थं स्पृहा भवति। अत एव

ज्ञायते 'सर्वोपमर्दी भगवत्सम्बन्धी रस' इति। एवं सर्वेषामेवावचने मूर्छिता इव जाता इति। एतदन्ता प्रश्नकथा। नवविधा एता गोप्यो निरूपिताः दशमी तु भगवता नीयते। एवमन्वेषणेन रसस्थैर्यं निरूपितम् ॥ १३ ॥

वनस्पति के बाहु से आलिङ्गित भी इन लताओं से पूछो ! यद्यपि इस समय लताओं से भी पूछने का अवसर नहीं है, कारण कि ये लताएं अपने पति वनस्पति की भुजा से आलिङ्गित भी भगवान् के नखों से ही स्पर्श की गईं रोमाञ्च धारण कर रही हैं।

वास्तव में तो जो एकरस में प्रविष्ट हैं, उनको दूसरे रस के लिये स्पृहा-प्रविष्ट होने की इच्छा नहीं होती है, इसलिये जान पड़ता है कि 'सर्वरसों का उपमर्दी—दूर करनेवाला भगवत्सम्बन्धी रस है'।

शुकदेव जी कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वोक्त वृक्षलता आदि ने जब गोपियों को उत्तर नहीं दिया, तब गोपियां मूर्च्छित की तरह हो गईं।

प्रश्नकथा भी यहां तक ही हुई, अर्थात् गोपियों का प्रश्न करना समाप्त हो गया। गोपियां नव प्रकार की हैं, इनका वर्णन ५ से १३ श्लोकों में किया है और दशमी गोपी को भगवान् अपने साथ ले गया है।

इस समय जो गोपी भगवान् के साथ में है, उसका ही दशम-निर्गुणभाव है, अन्य किसी का नहीं है, आगे अन्य में भी निर्गुण भाव कहेंगे।

इस प्रकार भगवान् का अन्वेषण करने—खोजने से गोपियों में रस की स्थिरता, अर्थात् रसासक्ति का निरूपण किया है, कार्यलक्षण निरूपण करने से, कारण लक्ष्य का निरूपण किया है, अर्थात् प्रतिज्ञात लक्षण से रसासक्ति का निरूपण सिद्ध हुआ, यह भाव है ॥ १३ ॥

(सुबो०) एवं तिरोधानेन जाततापनिवारणार्थं यत्नो निरूपितः। एतदुपमर्दिका भगवल्लीला प्रादुर्भूता। तस्या विलासं वक्तुं पूर्वोपसंहारपूर्वकमुपक्रमते इतीति।

इस प्रकार भगवान् के तिरोधान से गोपियों में ताप उत्पन्न हुआ था, उसका निवारण करने के लिये चरणचिह्नदर्शन आदि यत्न का वर्णन किया, कारण कि ताप रसासक्ति से ही उत्पन्न होता है, अब आगे ताप का उपमर्दन करनेवाली, दूर करनेवाली भगवान् की लीला प्रकट हुई, भगवल्लीला विलास निरूपण करने के लिये पूर्व लीला का उपसंहारपूर्वक शुकदेव जी भगवल्लीला का उपक्रम करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(इति) यह प्रकारवाची शब्द है—इस प्रकार (उन्मत्तवचः) उन्मत्तवचन वाली (गोप्यः) गोपियां (कृष्णान्वेषणकातराः) कृष्ण के अन्वेषण—ढुंढने में दीन हुईं (तदात्मिकाः) भगवदात्मक हो गईं (भगवतः) भगवान् की (तास्ताः) जो जो पहले की हुईं (लीलाः) लीलाओं को (अनुचक्रुः) अनुकरण करती हुईं (हि) यह अर्थ युक्त है ॥१४॥

भाषार्थ—शुकदेव जी कहते हैं कि, इस प्रकार की उन्मत्तवाणी कहनेवाली गोपियां कृष्ण की खोज करने में दीन हो गईं, और भगवदात्मक हुईं भगवान् की पूर्वकृत लीलाओं का अनुकरण करने लग गईं ॥ १४ ॥

(सुबो०) इतिशब्दः प्रकारवाची । एवं प्रकारेण प्रश्नायोग्येऽपि प्रश्नकरणादुन्मत्तवाचो गोप्यो जाताः । कृष्णस्यान्वेषणे कातरा अपि, दीना अपि जाताः । तनुर्वाक् श्रान्ता । मनसि तु त्रयो वर्तन्त इति प्रथमस्यापगमे द्वितीय आविर्भूत इत्याह लीला इति । भगवतस्तास्ताः पूर्वमुक्ताः कृताश्च तदात्मिकाः सत्यः अनुचक्रुः । उन्मत्तवच इति छान्दसो ह्रस्वः । अथवा । इति पूर्वोक्तमुन्मत्तवचः एतावदिति । ततो गोप्यः कृष्णान्वेषणार्थं कातरा जाता इति । भगवतो लीलाः षड्विधाः स्वाभाविक्यस्तासामपि भेदाः तास्ताः । युक्तश्चायमर्थः । भगवति हृदि समाविष्टे लीलाभिः सहिते । यदा यदा भगवानवतरति, तदा तदा पूतनासु पयःपानादिकं करोति, तथैव संवत्सरलीलायां पुरुषोत्तमादिषु प्रसिद्धिः । एतासामपि मनसि आविर्भूतेन कर्तव्यं तत्साक्षात्कर्तुमशक्यमिति भावनयैवाविर्भूत इति अनुकरणमात्रं कृतवत्यः ॥ १४ ॥

इति शब्द प्रकार वाचक है, अर्थात् इस प्रकार से स्थावर प्राणियों से प्रश्न करना अयोग्य है, तो भी गोपियों ने प्रश्न किया, इसलिये गोपियां उन्मत्तवाणीवाली हुईं, और कृष्ण के अन्वेषण से कातर-दीन भी हो गईं, इनके शरीर और वाणी थक गईं ।

मन में तो रसासक्ति, ताप, लीला और भगवान् तीनों ही हैं ।

प्रथम का अपगम, तिरोधान होने पर दूसरा प्रकट हुआ है, अर्थात् जिस प्रकार ज्वाला के जाने पर अग्नि तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार गोपियों का प्रश्न करके अन्वेषणरूप यत्न तिरोहित हो गया, रसासक्ति का शरीर, वाणी से तिरोधान हो गया । इसलिये द्वितीय पदार्थ, भगवान् की लीला प्रकट हो गई, इसको शुकदेवजी कहते हैं, (लीला इति) ।

भगवान् की लीला प्रथम प्रमाण आदि प्रकरण में कही हुई, तथा फल प्रकरण में कही हुई, और जो लीला पहले नहीं कही भी भगवान् ने की है 'कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य' इत्यादि से कहीं, उनका भी भगवदात्मक हुई गोपियां अनुकरण करने लग गईं ।

'उन्मत्तवचः' इसमें वाचः, न कहकर जो 'वचः' कहा है, वह छान्दस ह्रस्व किया है, अथवा—दूसरे प्रकार से अन्वय करना चाहिये ।

(इति) इस प्रकार पहिले कहा उन्मत्त का वाक्य इतना है ।

फिर गोपियां कृष्ण के ढूंढ़ने के लिये दीन हो गईं । इस प्रकार अन्वय है ।

भगवान् की छः प्रकार की लीलायें स्वाभाविकी हैं, इसमें भी अनेक भेद हैं । इसीसे मूल में (तास्ताः) भिन्न-भिन्न लीलाभेद कहा है ।

मूल में 'हि' शब्द है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि उक्त सर्व अर्थ युक्त है । गोपियों के हृदय में लीलासहित भगवान् प्रविष्ट है ।

जिस-जिस समय भगवान्का अवतार होता है, उस-उस समय भगवान् पूतना के प्राणपय का पान आदि लीला करता है, इसी प्रकार सर्वलीला वर्षोत्सव की पुरुषोत्तम मास आदि में प्रसिद्ध है ।

जो कुछ भगवान् को कर्तव्य है, वह गोपियों के मन में प्रकट होकर करना है, साक्षात् कर्तव्य अशक्य है, इसका विचार कर भगवान् गोपियों के मन में भावना से प्रकट हुए हैं, इसलिये गोपियां भगवान् का अनुकरणमात्र करने लग गईं ॥ १४ ॥

(सुबोधिनीकारिका)

भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तास्तु रोषतः ।
द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सराः ॥ १ ॥
सत्त्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ।
अतो न न्यूनभावोऽत्र ह्याविष्टाः शकटादिभिः ॥ २ ॥
सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा पादस्पर्शेच्छया पुनः ।
उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

यद्यपि समस्त गोपियों का भगवान् में एक-सा स्नेह है, तथापि किसी गोपी को कभी भगवद्भाव और किसी गोपी को कभी पूतनादि भाव हुआ है । इसमें कारण कहते हैं कि (भक्त्यातिमत्ताः) गोपियां भक्ति से अतिमत्त हैं । नायिकाभेद से गोपियों के भाव में भेद है ।

एक गोपी को भी समय आदि कारणभेद से भी भावभेद है ।

इस प्रकार भगवान् और भगवान् की लीला सम्बन्धिनी गोपियों के मध्य में जिस समय जिस गोपी को जिस प्रकार के रूप की स्मृति हुई, उस समय उस गोपी को उस रूप में तदात्मत्व हो गया । कारण कि जल आदि सम्बन्धी स्फटिक की तरह गोपियों का विशुद्धभाव है ।

इसलिये यहां इस प्रकार समझना चाहिये कि 'भक्त्यातिमत्ताः' जो गोपियां भगवन्मात्र ज्ञानवाली हैं, वे अतिमत्त हैं, और (कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्) मैं कृष्ण हूँ मेरी गति तुम देखो, इस प्रकार भगवद्भाव को प्राप्त हो गई हैं, और जो भगवल्लीला सम्बन्धिनी गोपी हैं, उनका ज्ञान थोड़ा मत्त है ।

लीला सम्बन्धिनी गोपियों के मध्य में जिसको भाव होता है, वह द्वेष आदि भाव भी तदात्मकता होने पर अपने आप ही होता हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये कारिका में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं (रोषतः) इस प्रकार द्वेषभाव का आश्रय करके मत्सरता को प्राप्त हुई गोपियां क्रीड़ा करने लगीं ।

गोपियों के पृथक्-पृथक् भावों का ज्ञापन करने के लिये आगे कहते हैं । (सत्त्वादिगुण भावेन) सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुणवाले भावों से गोपियों ने नव लीला की हैं ।

यद्यपि यहां लीला अनेक प्रकार की हैं, तथापि (१५–२३) नवश्लोकों में, एक-एक श्लोक में कही हुई लीला में एक-एक प्रकार की विवक्षा है, इसीसे कारिका में 'नवलीलाः' नवलीला गोपियों ने की हैं, इस प्रकार कहा है ।

यदि आप कहो कि भगवान् के ज्ञान को छोड़कर जिन गोपियों में पूतना आदि का ज्ञान है, उनमें भाव न्यून मालूम होता है, न्यूनभाव का आप कारण भी नहीं कह सकते हो, कारण कि

पहले आपने कहा है कि सर्वगोपियों का एक-सा भाव, बराबर है, न्यून नहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त में अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं, (अतो न न्यूनभावोऽत्र) सर्व गोपियों का भाव बराबर है, न्यून नहीं है। कितनी ही गोपियों में शकट आदि का आवेश है, इसलिये न्यूनभाव नहीं है, अर्थात् भगवद्भाववाली तथा पूतनादि भाववाली सर्वगोपियों का भाव बराबर है।

यहाँ भगवान् की तापलीला अन्योन्य उपमर्दक भाव से प्रकट हुई है। गोपियों में शीघ्र लीला का आविर्भाव है।

यदि कहो कि 'लेभे गतिं धात्र्युचिताम्' पूतना धात्री की गति को प्राप्त हुई है। इत्यादि वाक्यों से पूतना आदि को मोक्ष प्रतिपादन किया है, इसलिये शकट आदि के आवेश का कथन किस प्रकार सङ्गत होता है।

इस शंका का उत्तर कहते हैं—

गोपियों में जिस लीला का आविर्भाव हुआ है, वह लीला विशिष्ठ प्रकार की है, इसमें भगवान् की कृति तथा भगवान् के सम्बन्धी पदार्थ दोनों ही मिले हैं, दोनों में से एक नहीं है, किन्तु दोनों ही हैं। उक्त लीला का स्वरूप कहने से शंका को अवकाश नहीं मिलता है, कारण कि भगवल्लीला नित्य है।

भगवान् की लीलाओं में भगद्वीर्यरूप आधिदैविक असुरों का सम्बन्ध है, इसलिये असुरों का भगवल्लीला में प्रवेश है, और मुक्ति वाक्य का सम्बन्ध असुराविष्ट जीव विषय में है, अतः भिन्न विषय होने से विरोध नहीं है। जहां जो अंश प्रकट हुआ है, वहां वही अंश वर्णन किया है, नहीं तो पूतना के प्राणपय पान समय में भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी पूतनाभाव वाली गोपी का स्तनपान किस प्रकार करे तथा पूतना भाववाली गोपी भगवद्भाववाली गोपी में पूतना की तरह आचरण किस प्रकार करे। अतः किसी भाव में कहीं भी न्यूनता नहीं है।

इस पक्ष में एक लीला का जहां आविर्भाव होता है, वहां दूसरी लीला प्रकट नहीं होती है, यह सिद्ध हुआ।

उक्त द्वितीय पक्ष के विषय में तर्क करते हैं, कि जब एक लीला के आविर्भाव में दूसरी लीला प्रकट नहीं होगी तो बहुत काल तक विलास नहीं होगा, इसलिये पक्षान्तर-तीसरा पक्ष कहते हैं।

भगवद्भाव प्राप्त हुई गोपी के सकाश से पूतना उलूखल आदि भाव को प्राप्त गोपी उत्तम है. इस बात को ज्ञापन करने के लिये कहते हैं, (सर्वत्र हरिबुद्धया वा) गोपियों में अति उत्कट विरहभाव से अतिदीनता उत्पन्न हो गई, जिससे गोपियां भगवच्चरणारविंद सम्बन्ध की इच्छा करने लग गईं और जिस स्थान पर भगवान् के चरण सम्बन्ध का प्रथम अनुभव हुआ था, उस लीला का आचरण करती हैं।

इस गोपी ने विचार किया कि यदि भगवान् मेरे ऊपर चरणस्थापन नहीं करते हो, तो पूतना उलूखल आदि बुद्धि से ही मेरे ऊपर चरण स्थापन करो। इस प्रकार के भाव से अत्यन्त आर्ति-दुःख से ही सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो गई है, इसलिये भगवच्चरणारविन्द का सम्बन्ध प्रकर्ष से सिद्ध करने के लिये गोपियों में पूतनादिभाव हैं।

मूल कारिका में श्री महाप्रभुजी ने 'पुनः' शब्द कहा है, इससे ज्ञात होता है कि गोपियों को एक लीला का अनुकरण करने पर भी उक्त रीति से अत्यन्त आर्ति जिस समय होती है, उस समय फिर दूसरा उलूखल आदिभाव होता है।

इस प्रकार यहां भाव अधिक होने से उत्कर्ष सिद्ध है, यह भाव है ॥ ३ ॥

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥

पदपदार्थ— (पूतनायन्त्याः) पूतना की तरह आचरण करती (कस्याश्चित्) किसी गोपी का (कृष्णायन्ती) कृष्ण की तरह आचरण करती गोपी (स्तनम्) स्तन का (अपिबत्) पान करती हुई (अन्या) अन्य गोपी (तोकायित्वा) बालक की तरह आचरण करके अथवा आत्मा को लोक मानकर (रुदती) रुदन करती (शकटायतीम्) शकटासुर की तरह स्थित गोपी को (पदा) चरण से (अहन्) प्रहार करने लगी ॥ १५ ॥

भाषार्थ—पूतना की तरह आचरण करती किसी गोपी का, कृष्ण की तरह आचरण करती गोपी स्तनपान करती हुई, बालक की तरह आचरण करके रुदन करती अन्य गोपी ने शकटासुर की तरह स्थित गोपी को चरण से प्रहार किया ॥ १५ ॥

(सुबो०) प्रथमतो भगवच्चरित्रं पूतनासुपयःपानमिति, काचित्पूतनाभूता जाता, अन्या 'अहं कृष्ण' इत्युक्तवती, तदा तामङ्के भगवद्बुद्धया अगृह्णात्। ततस्तस्याः पूतनायन्त्याः कृष्णायन्ती स्तनमपिबत्। तस्यास्तु मरणभावना न स्थितेति, सा न मृता। नाप्यनुकरणं कृतवती। कृष्णायन्ती च स्तनमात्रमेव पिबति। अलौकिकसामर्थ्याभावात् इति स्तनपानमात्रमुक्तम्। अमङ्गलतानिवृत्तये च शकटभङ्गलीलामाह तोकायित्वेति। तोकवदाचरति, आत्मानं तोकं मन्यते वा, तोकवदात्मानं कृत्वा वा। शकटायतीं शकटवत् स्थितां, अहन् ताडितवती ॥ १५ ॥

पूतना के प्राण-पय का पान करना भगवान् का प्रथम चरित्र है, इसलिये कोई गोपी पूतनाभूत हो गई, अन्य गोपी 'अहं कृष्णः' मैं कृष्ण हूं, इस प्रकार कहती थी।

यद्यपि यहां 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रकार कहने का प्रयोजन नहीं है, तथा पूतना के प्राणपय-पान समय 'कृष्णोहं' इस प्रकार कथन का प्राकट्य भी नहीं हैं, फिर 'मैं कृष्ण हूं' इस प्रकार कथन सम्भव नहीं होता है, तथापि जिस समय पूतनाभूत गोपी आई थी, उस समय पूतनाभूत गोपी ने विचार किया कि कृष्ण मुझे ग्रहण करे, नहीं तो मेरा कार्य नहीं होगा, इस प्रकार की भगवान् की इच्छा पूतना में स्थित थी, और पूतना कृष्णत्व से मुझको जाने, इस प्रकार की इच्छा कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी में थी, अतः उक्त बात ज्ञापन करने के लिये 'कृष्णोऽहं' कहा है। उस समय पूतनाभूत गोपी ने कृष्णरूप गोपी को भगवद्बुद्धि से गोदी में ले लिया। अनन्तर पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी का, कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी स्तनपान करती थी।

पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी में 'मुझे मरना चाहिये' इस प्रकार मरणभावना में स्थित नहीं थी, इसलिये मरी नहीं।

पूतना की तरह आचरण करनेवाली गोपी के न मरने में 'भावनयैवाविर्भूता' भावना से ही लीला का आविर्भाव होता है, इत्यादि वाक्य से आचार्य द्वारा पूर्व कही उक्ति ही मुख्य समाधान है।

इस पूतनाभूत गोपी ने पूतना का अनुकरण भी नहीं किया, अर्थात् जिस प्रकार पूतना ने मारने की भावना से भगवान् को स्तनपान कराया था, उस प्रकार स्तनपान नहीं कराया, इसलिये कृष्ण की तरह आचरण करनेवाली गोपी स्तन मात्र का ही पान करती है, कारण कि भगवान् की तरह इस गोपी में अलौकिक सामर्थ्यं नहीं है, इसलिये यहां अमङ्गलता दूर करने के लिये मूल में स्तनपान मात्र कहा है ।

अब शकटभंग लीला शुकदेव जी कहते हैं ।

(तोकायित्वा) इसमें 'क' अक्षर दीर्घ छान्दस है ।

(१) बालक का आचरण करती है, (२) अथवा अपने को बालक मानती है। (३) अथवा बालक की तरह आत्मा को करती हैं ।

(शकटायतीम्) शकट की तरह स्थित गोपी को पाद प्रहार करती रही ॥ १५ ॥

(सुबो०) तृणावर्तलीलामाह दैत्यायित्वेति ।

अब शुकदेव जी तृणावर्त लीला का वर्णन करते है ।

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥

पदपदार्थ—(एका) एक गोपी (दैत्यायित्वा) दैत्य की तरह आत्मा को करके (कृष्णार्भभावनाम्) कृष्ण की बालभावना वाली (अन्याम्) अन्य गोपी को (जहार) हरण करती हुई (काऽपि) कोई गोपी (अंघ्री) चरणों को अर्थात् दोनों घुटुरुओं को (कर्षन्ती) खेंचती-घसीटती (घोषनिःस्वनैः) नूपुर आदि के शब्द सहित (रिंगयामास) रिङ्गण रेंगना अर्थात् चलती थी ॥ १६ ॥

भाषार्थ—एक गोपी अपने को दैत्य की तरह करके, कृष्ण की बाल भावना वाली अन्य गोपी का हरण करती हुई ।

कोई एक गोपी चरणों का कर्षण करती, अर्थात् घुटुरुओं से घिसटती नूपुर आदि के शब्द सहित रिङ्गण रेंगती थी ॥ १६ ॥

(सुबो०) दैत्यवदात्मानं कृत्वा कृष्णस्यार्भं बाल्यं भावयन्ती, कृष्णार्भभावनां तामेका आत्मानं दैत्यायित्वा जहार । काऽपि अंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः रिङ्गयामास चलितवती । यथा बाल्ये मुग्धप्रभीतवत् घोषप्रघोषरुचिरं भगवान् गच्छति । पूर्वश्लोके चतस्रः उक्ताः लीलाद्वयेन, तास्तामसतामस्यः । अत्र तिस्र एव राजसतामस्य इति । चरित्रलीलायामुक्ता विशेषा अत्राप्यनुसंधेयाः । अथवा । युगलास्तिस्रो निरूपिताः । गुणातीता त्वेका पुनः प्रकारान्तरेण । बह्व्यः एकभावमापन्नाः भगवदिच्छया प्रधानगुणभावं प्राप्य रजसा अनेकधा विक्षिप्ताः बहुरूपा जाताः ॥ १६ ॥

दैत्य की तरह आत्मा करके, कृष्ण की बालभावना करती, कृष्ण बाल भावना करनेवाली गोपी को, एक गोपी आत्मा को दैत्य की तरह करती हुई ।

कोई एक गोपी चरण खेंचती नूपुर आदि के शब्द सहित घुटुरुअन से चलने लग गई, जिस प्रकार बालभाव में मुग्ध डरपोक की तरह घोष प्रघोष से रुचिर भगवान् चलता है, उसी प्रकार चलने लगी ।

पहिले १५ वें श्लोक में (१) पूतना भाववाली (२) कृष्ण भाववाली (३) बाल भाववाली (४) शकट भाववाली, इस प्रकार चार गोपियाँ कही हैं । और १ पूतना लीला, २ शकटभंग लीला, दो लीला निरूपण की हैं ।

ये चारो गोपियां तामस तामस भाववाली हैं, और इस १६वें श्लोक में तीन गोपियां (१) दैत्य भाववाली (२) कृष्णभाववाली (३) रिङ्गण करनेवाली, इस प्रकार तीन हैं । ये तीनों राजस तामस भाववाली हैं ।

भगवान् की चरित्रलीला में जिन गोपियों के भावविशेष से भेद वर्णन किये हैं, उनका यहां भी अनुसन्धान करना चाहिये ।

अथवा, तीन युगल निरूपण किये है, पूतनावत् और कृष्णवत् गोपी का प्रथम युगल है, बालकवत् और शकटवत् गोपी का दूसरा युगल है, दैत्यवत् और कृष्ण बाल भावनावाली गोपी का तीसरा युगल है, इस प्रकार तीन युगल सगुण भाववाले हैं, और रिङ्गण करनेवाली गुणातीत एक है ।

पुनः प्रकारान्तर से बहुत-सी गोपियां एक भाव को प्राप्त हुईं, अर्थात् गोपालक-गोप रूप हुईं, और भगवान् की इच्छा से प्रधान गुणभाव को कृष्ण बलदेव भाव को दो गोपी प्राप्त हुईं ।

गोपियों में शृङ्गाररस सम्बन्धी रजोगुण भाव विशेष अनेक प्रकार से विक्षिप्त हुआ, और गोपालक-गोपों के रूप में बहुत रूप से हो गया, अर्थात् श्रीकृष्णरूप, बलदेवरूप, गोपबालकरूप भेद से गोप रूपों में बहुत्व हो गया ॥ १६ ॥

(सुबो०) वृन्दावनक्रीडायां वत्सपालकरूपा जाताः । तत्र प्रकारमाह कृष्णेति ।

अब वृन्दावन क्रीडा में गोपियां वत्सपालकरूप हो गईं, इसका प्रकार शुकदेवजो कहते हैं ।

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

पदपदार्थ—(द्वे) गोपियां (तु) तो (कृष्णरामायिते) कृष्णरामवत् हुईं (काश्चन) कुछ गोपियां (गोपायन्त्यः गोपबालकवत् हुईं (च) और कुछ गोपियां वत्सरूप हुईं (अन्या) अन्य गोपी (वत्सायतीं) वत्सवत् आचरण करनेवाली गोपी को (हन्ति) मारती हैं (तत्र) वहां लीला में (एका) एक गोपी (तु) तो (बकायतीम्) बगला की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती थी ॥ १७ ॥

भाषार्थ—दो गोपियां कृष्णरामवत् हुईं, कुछ गोपियां गोप बालकवत् हुईं, अन्य गोपियां बछड़ा रूप हुईं, फिर अन्य गोपी वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली को मारती हुई, और एक गोपी बकासुरवत् आचरण करनेवाली गोपी को मारती रही ॥ १७ ॥

(सुबो०) द्वे कृष्णरामायिते, कृष्णरामवत् जाते । काश्चन गोपायन्त्यः । चकारेण गोपा अत्र बालकाः । जातिशब्दोऽयम् । वत्सरूपाश्च काश्चन जाताः ।

समुचिताः । अन्या पुनर्वत्सायिता, वत्सासुरवदाचरति । तां घ्नती च जाता । कृष्णायिता अर्थात् चकारात् फलानि पातयन्ती च । अन्या पुनः बकायन्तीं घ्नती जाता । वत्सवधो लोके बलभद्रकृत इत्यपि प्रसिद्धः । 'प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः ।' अत उभयोर्मध्ये एका बकायतीम्, अन्या वत्सायतीम् ॥१७॥

दो गोपियां कृष्णरामवत् हुईं, और कुछ गोपियां गोपवत् हुईं ।

यदि कहो कि वत्सपाल लीला में तो भगवान् के साथ गोप बालक ही थे, इसलिये मूल में (बालायन्त्यः, कहना चाहिये था, मूल में गोपायन्त्यः, क्यों कहा ?

इसके उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं, यहां गोप शब्द बालकों का बोध करता है कारण कि गोपशब्द जातिवाचक है ।

कितनी ही गोपियां वत्सरूप हुईं, उक्त अर्थ मूल के 'च' शब्द से लिया है ।

अन्य गोपी फिर वत्सासुरवत् आचरण करती है, वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली गोपीको अन्य गोपी मारती हुई, अर्थात् जो गोपी कृष्णरूप हुई थी, उसने वत्सरूप गोपी को मारा ।

मूल के 'च' शब्द का अर्थ इस प्रकार है कि कृष्णरूप गोपी फलों को गिराती हुई ।

फिर अन्य गोपी बक की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई, वत्सवध लोक में बलभद्रकृत प्रसिद्ध है 'प्रलम्बोनिहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः' यह श्रीमद्भागवत का वाक्य है बलभद्र ने प्रलम्ब, वत्सक और धेनुक आदि का वध किया है ।

इसलिये दो गोपियों के मध्य में एक गोपी, बकासुर की तरह आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई और दूसरी गोपी वत्सासुरवत् आचरण करनेवाली गोपी को मारती हुई ॥ १७ ॥

(सुबो०) ततः परं गोपरूपेण वृन्दावनलीलामाह आहूयेति ।

इससे आगे गोपरूप से वृन्दावन लीला कहते हैं ।

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

पदपदार्थ—(कृष्णः) कृष्ण (दूरगा) दूर चली गयी गायों को (आहूय) बुलाकर (यद्वत्) कृष्ण की तरह कोई गोपी (तम्) कृष्ण को (अनुकुर्वतीम्) अनुकरण करती हुई (वेणुं) वेणु को (क्वणन्तीं) बजाती हुई (क्रीडन्तीं) क्रीडा करती हुई गोपी को (अन्याः) गोपवत् आचरण करनेवाली गोपियां (साधु) बहुत अच्छा (इति) इस प्रकार (शंसन्ति) प्रशंसा-बड़ाई करती हैं ॥ १८ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार कृष्ण दूर गई हुई गायों को बुलाता था, उसी प्रकार कृष्ण का अनुकरण करती तथा वेणुनाद करती क्रीडा करती हुई गोपी की अन्य गोपरूप गोपियां बहुत सुन्दर बहुत सुन्दर कहकर प्रशंसा करती हैं ॥ १८ ॥

(सुबो०) गोरूपाः काश्चन जाताः, गोपालरूपाः काश्चन । तत्र यद्वत् कृष्णः दूरगाः गाः आहूय वेणुक्वणनं करोति, एवं दूरगा गोपीराहूय तं कृष्णमनुकुर्वंती काचित् जाता ताम् । वेणुं क्वणन्तीम्, ततो नानाविधक्रीडां कुर्वंतीं अन्याः गोपायिताः साधु साध्विति शंसन्ति ॥ १८ ॥

कितनी ही गोपियां गायरूप हो गईं, और कितनी ही गोपियां गोपालरूप हुईं, उस समय जिस प्रकार कृष्ण दूर चली गईं गायों को बुलाकर वेणुनाद करता है, उसी प्रकार कोई कृष्णरूप गोपी दूर चली गई गोपियों को बुलाकर कृष्ण का अनुकरण करती हुई ।

वेणुनाद करनेवाली कृष्णरूप गोपी अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करती है ।

उसको अन्य गोपरूप गोपियां 'बहुत सुन्दर बहुत सुन्दर' इस प्रकार कहकर प्रशंसा करती हैं ॥ १८ ॥

(सुबो०) एका पुनः क्रीडायां कृतापि लीला भागवते अनुक्ता तां भावयित्वा तादृशीं लीलां कृतवती, तदाह कस्याश्चिदिति ।

फिर एक गोपी भगवान् ने क्रीडा में लीला तो की थी, किन्तु भागवत में शुकदेवजी ने वर्णन नहीं किया, इस प्रकार की लीला की भावना करके तादृशी लीला करती हुई, उसको शुकदेवजी कहते हैं ।

कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥

पदपदार्थ—(अपरा) अन्य गोपी (कस्याश्चित्) किसी गोपी में (स्वभुजं) अपने हस्त को (न्यस्य) धर कर (चलन्ती) चलती हुई (तन्मनाः) कृष्ण में मनवाली (आह) बोली (ननु) हे गोपियो ? (अहं) मैं (कृष्णः) कृष्ण हूं, मेरी (ललिताम्) मनोहर (गतिं) चालको (पश्यत) देखो । (इति) इस प्रकार कहने लगी ॥ १९ ॥

भाषार्थ—अन्य गोपी किसी गोपी के कन्धे पर अपना हस्त धर के चलती भगवान् में मनवाली कहती है कि मैं कृष्ण हूं, मेरी ललित-मनोहर गति देखो ॥ १९ ॥

(सुबो०) अत्रापि पूर्ववत् युगलास्तिस्रः । चतुर्थी वा । कृष्णरामायिते द्वे युगले । साध्वाशंसनसहिता वेणुनादपरा च तृतीया । एषा तु निर्गुणा । कस्यांचित् गोपरूपायां स्वभुजं स्थापयित्वा चलन्ती, अपरा गोपरूपा, अतोऽन्या । ननु हे गोप्यः अहं कृष्णः, मे ललितां गतिं पश्यतेति । दोषाभावार्थमाह तन्मना इति । पूर्वं कायिकीं चेष्टां केवलां कृतवती । इदानीं वाचा सहिताम् ॥१९॥

सत्रह श्लोक से तीन से १९ तक वृन्दावन लीला कहने का प्रसङ्ग है, और यहां भी १५ वें श्लोक की तरह तीन युगल हैं ।

अर्थात् कृष्ण बलदेव का निरूपण करके, श्रीकृष्ण रूप एक गोपी, दूसरी बकरूप है, यह एक युगल है ।

बलराम रूप एक गोपी, दूसरी वत्सरूप है, इस प्रकार दो युगल हुए, दूसरे १८ वें श्लोक में दूर से गायों को बुलाना, वेणुवादन, क्रीडा आदि करनेवाली कृष्णरूप एक गोपी, दूसरी प्रशंसा करनेवाली है इस प्रकार एक युगल है, उक्त प्रकार से तीन युगल हैं ।

यद्यपि 'आहूय' इस १८ वें श्लोक में गोरूप, कृष्णरूप और गोपरूप इस प्रकार तीन कहने चाहिये, तथापि गायों को बुलानेवाली लीला करनेवाले एक कृष्ण भगवान् ही विवक्षित हैं, उनके मध्य में गोपरूपों का भी अभिनिवेश जानना चाहिये ।

साधु-साधु प्रशंसा सहित वेणुवादन करनेवाली तीसरी है, अर्थात् तीसरे युगल को साधन करनेवाली है ।

इस १९ वें श्लोक में कही चतुर्थ गोपी है, यह निर्गुण है, अर्थात् (कस्याश्चित्) इसमें कही कृष्णरूप गोपी गुणातीत है, और अन्य पूर्व में कही सगुण हैं ।

किसी गोपरूप गोपी पर अपनी भुजा स्थापित करके चल रही दूसरी गोपरूप गोपी बोली, हे गोपियो ! मैं कृष्ण हूं, मेरी ललित-सुन्दर गति देखो ।

इस गोपी में किसी प्रकार का दोष नहीं था, इस बात को आगे कहते हैं (तन्मनाः) इसका कृष्ण में मन था ।

पहले इस गोपी ने केशव शरीर की क्रिया की थी, इस समय यह गोपी वाणीसहित शरीर की चेष्टा करती है ॥ १९ ॥

(सुबो०) पुनः प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह मा भैष्टेति ।

फिर प्रकारान्तर से निर्गुण, सात्त्विक, राजस और तामस चार प्रकार की गोपियों का वर्णन शुकदेवजी करते हैं ।

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

पदपदार्थ—(वातवर्षाभ्यां) वायु और वर्षा से (मा) मत (भैष्ठ) डरो (तत्त्राणं) बायुवर्षा से रक्षण (मया) मैंने (विहितं) किया है, (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) कह कर (यतन्ती) प्रयत्न करती गोपी (एकेन) एक (हस्तेन) हाथ से (अम्बरम्) वस्त्र को (उन्निदधे) ऊंचा धारण करती हुई ॥ २० ॥

भाषार्थ—वायु तथा वर्षा से मत डरो । मैंने वायुवर्षा से रक्षण तुम्हारा किया है, इस प्रकार कहकर प्रयत्न करती गोपी ने एक हाथ से गोवर्धन पर्वत की तरह अपना वस्त्र ऊंचा धारण कर लिया ॥ २० ॥

(सुबो०) एषैव निर्गुणा । काश्चन गो-गोपगोपीरूपा जाता वृष्टिभीता इव । तदा वातवर्षाभ्यां हेतुभूताभ्यां मा भैष्ट, मया तत्त्राणं विहितं इत्युक्त्वा एकेन हस्तेन अम्बरं यतन्ती, पर्वतवत् स्थापयन्ती, ऊर्ध्वं निदधे । गोवर्धनवत् धारितवती, यतन्ती प्रयत्नं कुर्वन्ती वा ॥ २० ॥

इस बीसवें श्लोक में कही गई गोपी निर्गुण है ।

कितनी ही गोपियां गाय, गोप और गोपीरूप हो गईं और वर्षा से भयभीत की तरह हो गईं, उस समय भय हेतु वायु वर्षा से मत डरो, मैंने तुम्हारा वायुवर्षा से रक्षण किया है, इस प्रकार एक निर्गुण गोपी कहकर एक हस्तसे वस्त्र गोवर्धन पर्वत की तरह स्थापन करती ऊंचा धारण करती हुई, अथवा गोवर्धन की तरह प्रयत्न करती ऊंचा धारण करती हुई ॥ २० ॥

(सुबो०) सात्त्विकयाश्चेष्टामाह आरुह्येति ।

अब सात्त्विक भाववाली गोपी की क्रिया कहते हैं ।

आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥

पदपदार्थ—(एकां) एक गोपी के ऊपर (आरुह्य) चढ़कर (शिरसि) मस्तक में (पदा) चरण से (आक्रम्य) प्रहार करके (अपरां) अन्य गोपी के प्रति (आह) बोली (दुष्टाहे) हे दुष्ट सर्प ! (गच्छ) चला जा (ननु) सम्बोधन मारने के लिये नहीं कहा है (खलानां) दुष्टों को (दण्ड धृक्) दण्ड देनेवाला (अहं) मैं (जातः) प्रकट हुआ हूं ॥२१॥

भाषार्थ—हे नृप एक गोपी अन्य गोपी के ऊपर चढ़कर और चरण से मस्तक में लात मारकर बोली, हे दुष्ट सर्प ! यहां से चला जा, खलों को दण्ड देनेवाला मैं प्रकट हुआ हूं ॥ २१ ॥

(सुबो०) एकामारुह्य, पदा च आक्रम्य, शिरसि पादाघातं कृत्वा । नृपेति सम्बोधनं विश्वासाय । एषा लीला कठिना । उपरि वृक्षशाखामवलम्ब्य वा तथा कृतवती । वस्तुतस्तु या लीला यथा प्रभुणा कृता, सा तथैवात्राविर्भवति इति निरालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिः ।) हे दुष्टाहे कालिय । इतो गच्छ । यतोऽहं खलानां दण्डधृक् जातः । ननु इति सम्बोधनं अमारणार्थम् ॥ २१ ॥

एक गोपी दूसरी गोपी के ऊपर चढ़कर उसके मस्तक में चरण से प्रहार करके बोली, हे नृप ! (इस सम्बोधन का तात्पर्य राजा परीक्षित का शुकदेवजी के कथन में विश्वास हो जाने के लिये है । यह लीला कठिन है, अथवा यह लीला इस प्रकार हुई कि कृष्णरूप गोपी ऊपर वृक्ष की शाखा का अवलम्बन करके, अर्थात् वृक्ष की शाखा में लटक कर दूसरी गोपी के लात मारती हुई ।

वास्तव में तो जो लीला जिस प्रकार प्रभु ने की है, वह उसी प्रकार से यहां प्रकट होती है, इसलिये निरालम्बन-वृक्ष शाखा के अवलम्बन बिना करने में भी कोई आपत्ति नहीं है ।

हे दुष्ट कालिय नाग ! यहां से तू चला जा, कारण कि मैं दुष्टों को दण्ड देने वाला प्रकट हुआ हूं ।

'ननु' यह संबोधन है, इसका भाव यह है कि सर्प को मारना नहीं हैं ॥ २१ ॥

(सुबो०) तत्रैकोवाचेति ।

अब वहां एक गोपी बोली, इसको आगे श्लोक में कहते हैं ।

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

पदपदार्थ—(तत्र) वहां (एका) एक गोपी (उवाच) बोली (हे गोपाः) हे गोपो । (उल्वणम्) भयंकर (दावाग्नि) वन में लगी अग्नि को (पश्यत) तुम देखो (आशु) जल्दी (चक्षूंषि) नेत्रों को (अपिदध्वं) बंद कर लो (वः) तुम्हारा (अञ्जसा) इसी क्षण में (क्षेमम्) कल्याण को (विधास्ये) विधान करूंगा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—वहां एक गोपी बोली, हे गोपो ! तीक्ष्ण-भयंकर दावाग्नि को देखो, शीघ्र अपनी आखें मींच लो, मैं तुम्हारा क्षेम इसी क्षण में करूंगा ॥ २२ ॥

(सुबो०) राजसी पुनस्तत्रैका जाता । उवाच च वक्ष्यमाणम् । गोरूपाः काश्चन । गोपरूपास्तथापराः । एका तु कृष्णरूपा आह । हे गोपा उल्बणं दावाग्नि पश्यतेति । विरहेण दावाग्नि दृष्टवती, भावनया वा तथा भानम् । सर्वापि क्रीडा भगवद्रूपा तत्र तत्राविशतीति दावाग्नेरपि दर्शनम् । अन्यासां विशेषाकारेण तस्यां भगवद्भावाभावात् न तत्प्रार्थना । एवमेव वातवर्षस्थलेऽपि । अतिमत्तानामेव भगवद्भावेन तल्लीलावेशात् तस्य एव दर्शनमिति निष्कर्षः ॥ २२ ॥

वहाँ फिर एक गोपी राजसी थी, और वह वक्ष्यमाण को कहने लगी । कितनी ही गोपियां गायरूप हैं, और कितनी ही गोपियां गोपरूप हैं, एक गोपी कृष्ण रूप है, कृष्ण रूप गोपी बोली, हे गोपो ! उल्बण दावाग्नि को तुम देखो ।

श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि यह गोपी भगवान् के विरह में दावाग्नि को देखती है ।

यहां यह भाव है कि भगवान् ने जिस समय उक्त लीला की थी, उस समय पहले गोपों ने दावाग्नि को देखा था, अनन्तर भगवान् की प्रार्थना की थी, फिर यहां पूर्व से विपरीत क्यों कहा!

इस शंका का परिहार महाप्रभुजी ने 'विरहेण दावाग्निं दृष्टवती' इससे किया है, कारण कि जिसमें अति विगाढ भाव होता है, उसको ही भगवद्भाव होता है, और उसके ही हृदय में विरहाग्नि प्रकट होती है, अर्थात् उसको ही दावाग्नि का दर्शन होता है, अतः उसी अति विगाढ भाव वाली स्वामिनी ने दावाग्नि को देखा, अन्य गोपियों ने नहीं देखा है, इसलिये श्री महाप्रभुजी ने 'विरहेण' इत्यादि कहा है ।

इससे पूर्व उस समय भी भगवान् ने पालन ही किया था, इसलिये अब इस समय भी स्वामिनियों की रक्षा ही की है यह भाव है ।

अथवा इसी गोपी को इस दावाग्नि पान लीला की भावना हुई है, इसलिये इसी गोपी ने ही कहा है ।

सभी गोपियां भगवान् की क्रीडा में भगवद्रूप हैं ।

गोपियों की भिन्न भिन्न क्रियाओं में भगवद्रूप क्रीडा का आवेश है, इसलिये दावाग्नि का भी दर्शन होता है ।

अन्य गोपियों का विशेषाकार से दावाग्नि का दर्शन करने वाली गोपी में 'यह भगवद्रूप है' इस प्रकार का भाव नहीं था, इसलिये अन्य गोपियों ने भगवान् रूप गोपी से रक्षा के लिये प्रार्थना नहीं की ।

इसी भाव को 'माभैष्ट वातवर्षाभ्यां' इस २० वें श्लोक में भी समझ लेना चाहिये, बीसवें श्लोक में भगवद्भाव वाली गोपी को ही वायु वर्षा का दर्शन हुआ था, अन्य गोपियों को नहीं हुआ ।

भगवद्भाव वाली गोपी को अन्य गोपियां 'यह भगवान् है,' इस प्रकार नहीं जानती हुईं इसलिये अन्य गोपियों ने भी वायु वर्षा से रक्षण की प्रार्थना नहीं की ।

अब श्री महाप्रभुजी निष्कर्ष कहते हैं कि, जो भक्त अति मत्त होते हैं, उनको ही भगवद्भाव होता है, और भगवद्भाव से भगवान् की लीला उसमें प्रविष्ट होती हैं, इसलिये उसको लीला का दर्शन होता है, यह तात्पर्य है ॥ २२ ॥

(सुबो०) तामसीमाह बद्धेति ।

तामसी गोपी का शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र ह्युलूखले ।
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

पदपदार्थ—(काचित्) कोई (तन्वी) सुन्दर शरीरवाली (उलूखले) ओखली में (अन्यया) अन्य किसी गोपी ने (स्रजा) माला से (बद्धा) बांध दी (हि) जिससे (तत्र) वहां (भीता) डरती (सुदृक्) सुन्दर दृष्टिवाली (आस्यं) मुखको (पिधाय) ढांककर (भीति बिम्बनम्) भय का अनुकरण (भेजे) करने लगी ॥ २३ ॥

भाषार्थ—एक सुन्दर अङ्ग वाली गोपी ने उलूखल स्थानीय गोपी में माला से अन्य गोपी को बांध दिया ।

एक गोपी यशोदारूप थी, उससे डरती हुई सुन्दर दृष्टि वाली गोपी हाथ से मुख ढांपकर भय का अनुकरण करने लग गयी ॥ २३ ॥

(सुबो०) उलूखले कयाचिद्बद्धो स्रजा मालया, उलूखलस्थानीयापि काचित् । अन्या तु यशोदारूपा । तदा भीता सती सुदृक् उत्तमदृष्टियुक्ता आस्यं पिधाय हस्तेन सम्पूर्णं मुखमाच्छाद्य, भीत्यनुकरणं भेजे । अत्र क्रमे गुणा एव प्रयोजकाः । तत्तदधिकारानुसारेण तत्तल्लीलाः प्रादुर्भवन्ति । भगवद्वशीकरणान्ता च लीला । अन्यथान्ते उलूखललीला न कृता स्यात् । नातः परं कर्तव्यमस्तीति लीलाया विरतिः । एवं लीलाभावमुपपाद्य भगवद्भावे वक्तव्ये भगवतो भीतिविडम्बनलीलायां सर्वा लीलास्तिरोहिताः । ततः पूर्ववत् पुनः प्रश्न एव स्थितः । अतस्त्वतस्य संवेदनपूर्वकत्वात् । एतत्त्वावेशेन जातमिति संवेदनराहित्यम् । अतस्त्वस्य नोपसंहारः ॥ २३ ॥

उलूखल में किसी गोपी ने कृष्ण रूप गोपी बांध दी, उलूखल स्थानीय भी कोई गोपी थी, अन्य गोपी यशोदारूप थी, उस समय कृष्ण रूप सुन्दर दृष्टिवाली गोपी डरती हुई संपूर्ण मुखको हस्त से ढांककर भय का अनुकरण करने लगी ।

यदि कहो कि पूर्व भगवान् ने जिस प्रकार पूतना का प्राणपय पान, फिर इसके अनन्तर शकट भङ्ग आदि लीला की, उसका निरूपण क्रम से यहां किया, अब गोवर्धन आदि लीला में क्रम निरूपण क्यों नहीं किया ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां क्रम निरूपण करने में गुण ही प्रयोजक हैं, अर्थात् गोपियां सात्त्विक आदि भावानुसार ही लीलायें करती हैं । और तत्तदधिकारानुसार ही तत्तल्लीलाओं का प्रादुर्भाव होता है, और भगवान् को वश करने पर्यन्त ही लीला है । अब

यदि इस बात को नहीं मानते हैं तो गोपियां अन्त में उलूखल लीला नहीं करतीं । अब इससे आगे गोपियों का कर्तव्य शेष नहीं है, इसलिये लीलाकृति भी समाप्त हो गई ।

गोपियां भगवान् की जिन लीलाओं का अनुकरण करती हैं, उन लीलाओं के क्रम में जिन गोपियों के चित्त में जिस प्रकार का सात्त्विकादिभाव है, उस भाव के अनुसार भावनासे उस उस लीला का प्रादुर्भाव होता है।

उन लीलाओं का फल भगवान् को वश में करना है, कारण कि वशीकृत ही भगवान् ने चरणदर्शन कराया है, इस आशय को सूचन करने के लिये यहां 'भगवद्वशीकरणान्ता लीला' भगवान् को वश करने पर्यन्त ही लीला है, इस प्रकार मूल में कहा है।

भगवान् की इच्छा से ही आरम्भ लीला का क्रमत्याग भी है। साधनों की पराकाष्ठा उसी समय सिद्ध होती है, जिस समय भगवान् अपने वश में हो जाता है, इस प्रकार पुष्टिमार्ग की व्यवस्था है।

पुष्टिमार्गीय व्यवस्था यहां इस लीला में सिद्ध हो गई, अतः अब यहां से आगे गोपियों का कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, इसलिये लीलाओं का भी तिरोधान हो गया। अर्थात् साधनत्व से लीला प्रकट होकर कृतार्थ हो गई, इसलिये लीला करने का प्रयोजन न होने से लीला तिरोभूत हो गई।

इस प्रकार वर्णन करने से भक्तिमार्ग का स्वरूप सिद्ध बतलाया है, कि भगवान् भक्त के वश में हो जाता है, वहां पुष्टिमार्ग सिद्ध जानना चाहिये।

इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी ने निबन्ध में कहा है।

'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते'।

जहां तक भक्त कृष्ण के अधीन रहता है, वहां तक भक्ति मर्यादा है, और जब कृष्ण भक्त के अधीन हो जाता है, तब उसको पुष्टि भक्त कहते हैं। जिस प्रकार यहां दामोदर लीला में भगवान् ने भक्तवश्यता दिखाई है।

इस प्रकार गोपियों में लीलाभाव उत्पन्न करके, अब भगवद्‌भाव कहने के लिये भगवान् की भय अनुकरण लीलामें सर्वलीलायें तिरोहित हो गईं, इसलिये पुनः गोपियां पहिले की तरह वृक्ष आदि से प्रश्न ही करने लग गईं।

प्रश्न करने में बाहर का ज्ञान होता है, भीति अनुकरण तो भगवान् के आवेश से हुआ है, उसमें बाह्यज्ञान प्रपञ्चज्ञान नहीं रहता है, इसलिये इसका उपसंहार नहीं कहा है ॥ २३ ॥

(सुबो०) पूर्वं तु 'इत्युन्मत्तवच' इति वचनमेवोपसंहृतम, नतु प्रश्न उपसंहृतः। अत इदानीं मध्ये लीलामुक्त्वा तस्यास्तिरोधाने पुनरेव वृन्दावनलतास्तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इत्याह एवमिति।

पहले 'इत्युन्मत्तवच' इस चौदहवें श्लोक में वचन का ही उपसंहार किया है, प्रश्न नहीं, आगे २४वें श्लोक में 'पृच्छामानाः' इससे कायिक अभिनय गोपियों ने किया है, इस प्रकार बोध होता है, आगे गोपियों को अत्यन्त आर्ति का वर्णन किया है, इसलिये इस समय मध्य में लीला कहकर, लीला का तिरोधान होने पर फिर भी गोपियां वृन्दावन के लता वृक्षों के प्रति कृष्ण को पूछने लग गईं, इसका वर्णन शुकदेव जी करते हैं।

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

पदपदार्थ—(एवं) इस प्रकार (वृन्दावनलताः) वृन्दावन की लताओं के प्रति (तरून्) वृक्षों के प्रति (पृच्छमानाः) पूछती गोपियां (वनोद्देशे) वन भूमि में (परमात्मनः) भगवान् के (पदानि) चरणों को (व्यचक्षत) देखने लगीं ॥ २४ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार वृन्दावन की लतायें तथा वृक्षों से कृष्ण को पूछती गोपियां व्रजभूमि में परमात्मा भगवान् के चरणों का दर्शन करती रहीं ॥ २४ ॥

(सुबो०) तदा पुनरनुत्तरे प्राप्ते भगवानाविशन् मोहं दूरीकृत्य सर्वं ज्ञापितवानित्याह व्यचक्षतेति। तापापनोदनार्थमेव त्रयम्, अन्वेषणं लीलाप्रवेशो भगवदावेशश्चेति। तत्र प्रश्नोऽन्तरङ्ग इति स एव सर्वत्रानूद्यते। वृन्दावनलताः तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इति। ततो वनोद्देशे वनभूमौ भगवतः पदानि दृष्टवत्यः। परमात्मन इति। पदानां परमपुरुषार्थता सूचिता। भगवदावेशे हि सर्वज्ञता भवति। तेषां च कार्यं भगवत्पददर्शनम्। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरय' इति श्रुतेः ॥ २४ ॥

गोपियों में भगवान् की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आर्ति थी, उस आर्ति में गोपियों ने वृन्दावन की लताओं तथा वृक्षों से भगवान् को पूछा, किन्तु जब उस समय उत्तर नहीं मिला तब गोपियों में भगवान् प्रविष्ट हुए, और गोपियों का मोह दूर करके सर्वज्ञापन करते हुए, इस बात को कहते हैं, (व्यचक्षत) गोपियां वनभूमि में परमात्मा के चरण दर्शन का करती हुईं।

भगवान् को ढूंढना, भगवान् की लीलाओं का प्रवेश, तथा भगवान् का प्रवेश, ये तीनों गोपियों का ताप दूर करने के लिये ही हैं।

अन्वेषण—ढूंढने से शान्ति, और अन्य लीलाप्रवेश, भगवत्प्रवेश, दोनों से ताप की स्फूर्ति नहीं होती है।

इनमें प्रश्न अन्तरङ्ग है, इसलिये प्रश्नका सर्वत्र अनुवाद किया है, गोपियां वृन्दावन के लतावृक्षों से कृष्ण को पूछने लगीं, फिर अनन्तर वनभूमि में भगवान् के चरण का दर्शन हुआ।

मूल में 'परमात्मनः' इस पद से भगवान् के चरण को परम पुरुषार्थता सूचन की है, परमात्मा के चरण परमपुरुषार्थ रूप हैं।

यदि कहो कि मूल में भगवान् का प्रवेश नहीं कहा, फिर तुमने गोपियों में भगवान् का आवेश क्यों कहा ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस समय भगवान् का आवेश होता है, उस समय जीव में सर्वज्ञता होती है, अतः सर्वज्ञता लक्षण कार्य से भगवदावेश अनुमेय है।

गोपियों में सर्वज्ञता का कार्य भगवान् के पद का दर्शन स्पष्ट है।

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' ज्ञानी और भक्त सदा विष्णु के परम पद का दर्शन करते हैं, यह श्रुति है ॥ २४ ॥

(सुबो०) एता अपि पूर्ववत् दशविधाः। तथैव तासां वचनानि। पदानि प्रत्यक्षयोग्यानि सर्वैरेव दृश्यन्त इति तेषां याथात्म्यज्ञानं साध्यम्। अतः प्रथमं आहुः पदानि व्यक्तमेतानीति।

पूर्व की तरह ये गोपियां भी दश प्रकार की हैं, नव सगुण, और दशमी निर्गुण है, इन गोपियों के वाक्य भी सगुण निर्गुण भेद से दश प्रकार के हैं।

प्रत्यक्ष योग्य भगवान् के चरण का सभी गोपियां दर्शन कर रही हैं, इस लिये चरणों का याथात्म्यज्ञान-वास्तव में जिस प्रकार के भगवान् के चरण हैं, उसका ठीक ठीक ज्ञान साध्य है। अर्थात् दर्शन साधन है, और याथात्म्य ज्ञान साध्य है, इसलिये गोपियों ने पहले ही कहा है 'पदानि व्यक्तमेतानि'।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः ॥ २५ ॥

पदपदार्थ—(एतानि) ये (पदानि) चरण (महात्मनः) महतों की भी आत्मा (नन्दसूनोः) नन्द पुत्र के (व्यक्तम्) स्पष्ट सत्य हैं, इसमें संदेह नहीं है (हि) जिससे (ध्वजांभोज च क्रांकुशयवादिभिः) ध्वजा कमल चक्र अंकुश यवादि चिह्नों से (लक्ष्यन्ते) लक्षित होते हैं ॥ २५ ॥

भाषार्थ—ध्वजा कमल चक्र अंकुश और यव आदि के चिह्नों से लक्षित होते हैं कि ये चरण निश्चय महात्मा नंदपुत्र के हैं ॥ २५ ॥

(सुबो०) एतानि पदानि नन्दसूनोरेव। व्यक्तं सत्यम्, नात्र सन्देहः। चिह्नैः पदानां विशेषज्ञानम्। चिह्नान्येव कथं भवन्तीत्याशङ्क्य, तत्रोपपत्तिमाहुः महात्मन इति। महतामप्यात्मा महान् वा ब्रह्मरूपः। तस्य तत्तत्कार्यार्थं पदे चिह्नानि भवन्ति, प्रकृतेऽपि तेषामुपयोग इति तदभिव्यक्तिः क्रियते। तानि चिह्नान्याह लक्ष्यन्त इति। अनुमीयन्ते पदानि। असाधारणधर्मैः। लोकेप्येतादृशोऽर्थः प्रसिद्ध इति सम्मतिः। ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम्। अम्भोजस्थापनं सुखसेव्यत्वाय। चक्रस्थापनं रक्षायै। मनोनिग्रहार्थं अङ्कुशस्थापनम्। कीर्तिसिद्ध्यर्थं यवः। वज्रादयोप्यादिशब्देनोच्यन्ते, पापपर्वतादिनिराकरणार्थाः ॥ २५ ॥

गोपियां कहती हैं ये पद नन्दसूनु के ही हैं यह सत्य है, इस में संदेह नहीं है।

चिह्नों से भगवान् के चरणों का विशेष ज्ञान हो रहा है। यदि कहो कि भगवान् के चरण में चिह्न ही क्यों होते हैं।

तब इस शंका के उत्तर में कहती हैं। (महात्मनः) महत् बड़ों की भी आत्मा, अथवा महान् आत्मा, ब्रह्मरूप, इस पक्ष में कर्मधारय समास है, पृथक्-पृथक् कार्य करने के लिये महात्मा ब्रह्मरूप भगवान् के चरणों में चिह्न होते हैं। प्रकृत, इसचालू प्रसङ्ग में भी भगवान् के चरणचिह्नों का उपयोग है, इसलिये भगवान् ने चरणचिह्नों को प्रकट किया है।

गोपियां चरणचिह्नों का वर्णन करती हैं, (लक्ष्यन्ते) असाधारण धर्मों से भगवान् के चरणचिह्नों का अनुमान हो रहा है, लोक में भी इस प्रकार का अर्थ प्रसिद्ध है, इस प्रकार 'हि' शब्द सम्मति देता है।

भक्तों के निर्भय निवास करने के लिये भगवान् के चरण में ध्वजा विराजमान है।

भक्त भगवान् की सुख से सेवा कर सके, इसलिये कमल विराजमान है, भक्त की रक्षा करने के लिये चक्र विराजमान है। भक्तों के मन का निग्रह करने के लिये अङ्कुश विराजमान है, कीर्तिसिद्धि के लिये यव का चिह्न भगवान् के चरण में विराजमान है।

और आदि शब्द से वज्र आदि के चिह्न पाप पर्वत आदि निराकरण करने के लिये भगवान् के चरण में विराजमान हैं ॥ २५ ॥

(सुबो०) एवमसाधारणधर्मैः पदानि निश्चित्य, तन्मार्गेण गता इत्याह तैस्तैरिति।

इस प्रकार गोपियां असाधारण धर्मों से भगवान् के चरणों का निश्चय करके उसी मार्ग से अर्थात् भगवान् के चरणों का दर्शन करते करते आगे गईं, इसको शुकदेव जी कहते हैं।

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(तैस्तैः) उस उस (पदैः) चरणों से (तत्पदवीं) भगवान् के मार्ग को (अन्विच्छन्त्यः) ढूंढती हुईं (अग्रतः) पहिले गोपियां (अबलाः) बलरहित, अर्थात् देहानुसंधान करतीं (वध्वाः) किसी गोपी के (पदैः) चरणों से (सुपृक्तानि) मिले हुए भगवान् के चरणों को (विलोक्य) देखकर (आर्ताः) दुःखी गोपियां (समब्रुवन्) परस्पर कहने लगीं ॥ २६ ॥

भाषार्थ—भगवान् के उन उन चरण चिह्नों से अबला गोपियां मार्ग ढूंढती आगे आगे गईं, और किसी गोपी के चरण भगवान् के चरणों से मिले देखकर दुःखी होती कहने लगीं ॥ २६ ॥

(सुबो०) ज्ञानं क्रियापर्यवसायीति क्रिया निरूप्यते। तत्पदवीमन्विच्छन्त्योग्रतोऽबलाः जाताः, पदान्यन्विष्य तत्पदवीं गता इत्यर्थः। मध्ये तासां गच्छेयुरेवान्तिप्रतिबन्धमाह वध्वा इति। यदि तासां मत्सरदोषो न स्यात्, गच्छेयुरेव। वध्वाः कस्याश्चिद्गोपिकायाः। दोषवशाच्च परं कुण्ठिता भवन्ति। तदाह। कम्। पदैः सुपृक्तानि पंक्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा तानि विलोक्य च आर्ता जाताः। तदा अन्योऽन्यमेवाब्रुवन्। ज्ञानक्रिययोरुपसर्जनं कृत्वा वाचि प्रतिष्ठिता जाताः। अन्यथा शीघ्रगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् ॥ २६ ॥

ज्ञान का पर्यवसान्-परिणाम-अन्त क्रिया में है, इसलिये गोपियों की क्रिया का निरूपण करते हैं।

गोपियों को भगवान् के चरणचिह्न के दर्शन से याथात्म्यज्ञान हुआ था, इसलिये ज्ञान के परिणाम से क्रिया प्रकट होती है।

भगवान् के मार्ग को ढूंढती गोपियां प्रथम अबला हुईं, अर्थात् पहले गोपियों को अपनी देह की सुध नहीं थी, अब गोपियां अपनी देह का अनुसन्धान करती हुईं, और भगवान् के चरणों की खोज करके भगवत्पदवी को प्राप्त हो गईं।

मध्य में गोपियों को चलते-चलते प्रतिबन्ध आ गया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं।

यदि गोपियों को मत्सर दोष नहीं होता, तो भगवान् के समीप पहुँच जातीं, केवल दोष वश से गोपियां कुण्ठित—चलते चलते रुक गईं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि किसी गोपी के चरणों से मिले बराबर जा रहे भगवान् के चरणों को देखकर, और इस गोपी के चरणों को देखकर गोपियां आर्त-दुःखी हो गईं, और उस समय परस्पर कहने लगीं।

गोपियां ज्ञान और क्रिया को उपसर्जन-गौण करके वाणी में स्थित हो गईं। अर्थात् परस्पर बातचीत करने में लग गईं, नहीं तो शीघ्र चली जातीं और परस्पर बातों में न लगतीं तो भगवान् प्राप्त हो जाते ॥ २६ ॥

(सुबो०) तासामसूयावाक्यान्याह कस्याः पदानीति ।

अब आगे श्लोक में गोपियों के असूया-ईर्ष्या वाक्य कहते हैं ।

कस्याः पदानि चैतानि यातायाः नन्दसूनुना ।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (करेणोः) हथिनी के (करिणा) हाथी द्वारा (तथा) उसी प्रकार (अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः) कंधे पर धरा प्रकोष्ठभाग जिसमें (च) और (नन्दसूनुना) नन्दपुत्र के साथ (यातायाः) जा रही (कस्याः) किस गोपी के (एतानि) ये सब (पदानि) चरण हैं ॥ २७ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार हाथी हथिनियों के कंधे ऊपर अपना हाथ-सूंड़ रखता है, उसी प्रकार-कंधे ऊपर हाथ धरनेवाले नन्दपुत्र के साथ जानेवाली किस गोपी के ये सब चरण हैं ॥२७॥

(सुबो०) पुरुषोऽत्र न संभाव्यते, नापि ग्रामान्तरस्त्रियः, अतोऽस्मन्मध्य एव कस्याश्चिद्भविष्यन्तीति । अयं प्रश्न इतरपरिच्छेदेन विशेषज्ञानार्थः । न त्वत्र पदे लक्षणानि सन्ति । चकाराद्भगवतः तस्याश्च चेष्टाज्ञापकानि चिह्नान्यप्युच्यन्ते । सा हि नन्दसूनुना सहैव याता । अन्यथा भगवान् न गच्छेत् । प्रायेण नीतः । स्वापेक्षया तस्या महद्भाग्यमाहुः । अंसे न्यस्तः प्रकोष्ठभागो यस्याम् । प्रकोष्ठभागो भगवदीयः करतलादर्वाचीनभागः । तावता करेण कश्चित्सम्बन्धः सूचितः । तावदेव नैकट्यं पदयोरिति । किञ्च, मध्ये तयोः रसाविर्भावोऽपि जायत इति दृष्टान्तेनाहुः । करेणोः करिणा यथेति । करेणोरसे यथा हस्तः प्रसार्यते इति । करेणुः स्त्री, तस्या अंसे यथा करी हस्तं प्रसारयति, तदा पदानि मिलन्ति, संमुखश्च भवति, उद्घृष्टकण्ठा वा भवति । स्पर्शसुखमेव प्रधानमिति गजो दृष्टान्तीकृतः । एवं त्रिविधा गोपिका उक्ताः ॥ २७ ॥

गोपियां कहती हैं कि यहां पुरुष की तो संभावना ही नहीं होती है, और न ग्रामान्तर की स्त्री की सम्भावना होती है, इसलिये हमारे मध्य में से ही किसी गोपी के चरण होंगे ।

यह गोपियों का प्रश्न अन्य स्त्री का परिच्छेद निर्णय करके विशेष ज्ञान के लिये है । अर्थात् अमुक स्त्री को ही भगवान् साथ लेकर गये हैं, उसके ये चरण हैं, इस प्रकार विशेष ज्ञान करने के लिये ही प्रश्न किया है ।

जिस गोपी को भगवान् साथ लेकर गये हैं, यहां उसके चरण में लक्षण नहीं है । मूल के चकार से भगवान् तथा उस गोपी के चेष्टा-क्रिया ज्ञापन करनेवाले चिह्न भी हैं ।

वह गोपी नन्दराय जी के पुत्र के साथ ही गई है, नहीं तो भगवान् नहीं जाते । वह गोपी ही प्रायः करके भगवान् को अपने साथ ले गई है । अर्थात् वह गोपी प्रधान और भगवान् उसके समक्ष गौण हो गये हैं ।

अब गोपियां कहती हैं कि हमारी तुम्हारी अपेक्षा वह गोपी महाभाग्यवाली है, जिसके कन्धे पर भगवान् ने अपना प्रकोष्ठ भाग धरा है, प्रकोष्ठभाग भगवदीय है, अर्थात् भगवान् का है, करतल के नीचे के भाग को प्रकोष्ठ कहा जाता है, पहुँचे से केहुनी तक का भाग है, अर्थात् प्रकोष्ठ भाग से जिस समय गले में हस्त डाला जाता है, उस समय हस्तभाग से स्तनादि के ऊपर स्पर्शादि होता है, यहां इस भाव का सूचन किया है, इतनी ही चरणों में निकटता है ।

अब गोपियां कहती हैं कि भगवान् तथा गोपी दोनों को मध्य में रस का आविर्भाव भी होता जा रहा है, इस बात को दृष्टान्त से बतलाती हैं, (करेणोः करिणा यथा) ।

हथिनी के कन्धे पर जिस प्रकार हाथी अपना हस्त-सूंड़ प्रसारण करता है, उसी प्रकार भगवान् ने उस गोपी के कन्धे ऊपर अपना श्रीहस्त प्रसारण किया है, 'करेणुः' हाथी की स्त्री, उसके अंस पर जिस समय हाथी हस्त-सूंड़ प्रसारण करता है, उस समय दोनों हाथी तथा हथिनी के चरण मिल जाते हैं, और हाथी हथिनी के सम्मुख हो जाता है ।

अथवा हाथी का कण्ठ हथिनी से उद्घृष्ट घिसा जाता है, उसी प्रकार भगवान् तथा गोपी की स्थिति मालूम पड़ती है ।

श्रृङ्गाररस में स्पर्श सुख ही प्रधान है, इसलिये यहां गज का दृष्टान्त दिया है ।

इस प्रकार सत्त्वप्रधान तीन प्रकार की गोपियों का वर्णन किया है ॥ २७ ॥

(सुबो०) गुणातीताया वाक्यद्वयमाह । दोषाभावप्रतिपादकं गुणप्रतिपादकं च । तामसतामसी भगवदाविष्टा न भवतीति । अनयाराधित इति द्वाभ्याम् ।

अब शुकदेव जी गुणातीत गोपियों के वाक्य दो श्लोकों में कहते हैं, एक श्लोक दोषाभाव प्रतिपादक है, और दूसरा गुण प्रतिपादक है ।

तामस तामसी गोपी में भगवान् का आवेश नहीं होता है, इसलिये इसका वाक्य भी संभव नहीं है ।

अथवा (विप्रावमन्ता विशतां तमोन्धं यथा गजः) ब्राह्मणों का अपमान करनेवाला अन्धतम में प्रविष्ट हो, जिस प्रकार हाथी, इस वाक्य से गज तामस है, हाथी का दृष्टान्त देने से, इस वाक्य को कहने वाली स्वामिनी तामस तामसी है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

इस प्रकार पहले कहे सत्त्वप्रधान गोपियों के तीन वाक्य, तथा आगे दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के दो वाक्य ।

तथा तीन श्लोकों में रजोगुण प्रधान गोपियों के वाक्य, और दो श्लोकों में तमोगुणप्रधान गोपियों के वाक्य निरूपण किये हैं ।

इस प्रकार दश संख्या पूर्ण होती है ।

अब प्रथम दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के वाक्य कहते हैं ।

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ २८ ॥

पदपदार्थ—(अनया) इस गोपीने (भगवान्) (हरिः) हरि (ईश्वरः) ईश्वर (नूनं) निश्चय (आराधितः) साधित किया है (यत्) जिससे (नः) हम सब को (विहाय) छोड़ कर (प्रीतः) प्रसन्न हुआ (गोविन्दः) गोविन्द (याम्) इस गोपी को (रहः) एकान्त में (अनयत्) ले गया है ॥ २८ ॥

भावार्थ—इस गोपी ने निश्चय भगवान् हरि ईश्वर की आराधना की है, कारण कि इसके ऊपर प्रसन्न गोविन्द हम सबको छोड़ कर इसको एकान्त में ले गया है ॥ २८ ॥

(सुबो०) तत्र प्रथमं तया सह विशेषरमणे तस्या भाग्यं तस्याः पुण्यं हेतुत्वेनाहुः । अनया हरिर्नूनमाराधितः । यद्यप्यस्माभिरप्याराधितः, तथापि नूनं नाराधितः । भगवदनाराधकैरपि फलत्वात् भगवतः सम्बन्धसम्भवात् । आराधिते तु फलं स्ववशे भवति । तत्रापि तारतम्यम् । ननु तुल्यकर्मणां मध्ये कथं अवान्तरभेदः, तत्राह भगवानिति । सामग्रीभेदात् कर्माणि सर्वत्र विलक्षणानि भवन्ति । तदवान्तरवैलक्षण्यं स एव जानाति । अतस्तथा फलनिरूपको जातः । ननु तथापि वयं तथा न ज्ञापनीयाः, दुःखसाधकत्वादिति चेत्, तत्राहुः हरिरिति । सहि सर्वदुःखहर्ता, वैलक्षण्यज्ञापनार्थं तथा बोधितवान् । ननु भक्तिः तुल्येति कथं भक्त्यनुसारेण तुल्यफलं न कृतवान्, तुल्यफलत्वेन कर्म कुतः स्वीकृतवान्, तदाहुरीश्वर इति । कदाचिद्भक्तिमुररीकरोति, कदाचित्कर्म, कदाचित्स्वेच्छाम् । न हीश्वरो नियन्तुं शक्यः । अस्मान् भक्तिमार्गे योजयति, न कर्ममार्ग इति । अत एव नः अस्मान् विहाय गोविन्दः साधारणेन्द्रोऽपि रहः एकान्ते प्रीतः सन् तामेवानयत् । कामरसः स्त्रीसमूहापेक्षयाप्येकस्यामेव मुख्यतयोत्पद्यते । तथा करणे प्रीतिर्हेतुः, प्रीतौ भक्तिः कर्म वा ॥ २८ ॥

साथ में ले जाकर वहां प्रथम भगवान् ने इस गोपी के साथ विशेष रमण किया है, विशेष रमण करने में इस गोपी का भाग्य पुण्य ही हेतु है, इस बात को गोपियां कहती हैं ।

आराधन पुण्य है, पुण्यजनित भगवत्प्रसाद विषय भाग्य शब्द से कहा है, इस गोपी ने हरि की निश्चय आराधना की है ।

गोपियां कहती हैं, यद्यपि भगवान् की आराधना हमने भी की है, तथापि हमने निश्चय आराधना नहीं की है, 'नूनं' मूल में कहा है, इसका स्वारस्य यह है कि हमने किसी अन्यद्वारा आराधना की है ।

यदि कहो कि अन्य द्वारा आराधना करने परभी 'तत्क्रतु न्याय' से फल भी अन्य द्वारा ही होना चाहिये, साक्षात्संबन्ध नहीं होना चाहिये ।

इस शंका का समाधान यह है कि जो लोग भगवान् की अन्य साधन द्वारा आराधना करते हैं, साक्षात् आराधना नहीं करते हैं, उनको भी भगवान् फल रूप हैं, इसलिये भगवान् का सम्बन्ध सम्भव होता है, अर्थात् अन्य द्वारा भी भगवान् का सम्बन्ध होता है ।

ब्रह्मपुराण की समाप्ति होने पर मायानुकीर्तन अध्याय के प्रारम्भ में भास्कर की प्रसन्नता से शंभु की पूजा में रुचि उत्पन्न होती है, इस प्रकार कहकर 'तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशवे' ।

महादेव के प्रसन्न होने पर केशव में भक्ति होती है, इस प्रकार कहा है । भागवत एकादश स्कंध में भी भगवान् ने कहा है ।

यद्यपि मय, और बाण दोनों शिवभक्त प्रसिद्ध हैं, तथापि 'वृषपर्वाबलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः' इत्यादि से अपने पद की प्राप्ति कही है, अतः भगवान् की अनाराधना-नहीं आराधना करने वाले साधनों द्वारा भी भगवान् के साक्षात्संबंध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है ।

उक्त प्रकार निरूपण करने से ज्ञात होता है कि कुमारिकाओं ने भी यहां अपना कात्यायनी द्वारा आराधन स्मरण किया है ।

यदि कहो कि अन्य द्वारा आराधन और साक्षात् आराधन, ये दोनों तुल्य ही हुए, फिर इस गोपी के आराधन में विशेषता क्या हुई ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् की साक्षात् आराधना करने पर फल रूप भगवान् आराधना करनेवाले के वश में हो जाते हैं, अन्य द्वारा आराधन में प्रभु वश नहीं होते हैं । भगवान् बाल्यकाल से ही हैं

यदि कहो कि ठीक यही बात है तो गोपियों के वश में तो भगवान् इस समय भी उक्त वाक्य 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है, यही आशय प्रकट होता है, फिर निश्चय आराधना अङ्गीकार करने से गोपियों के वश में ही हूं, हमने नहीं की है, इस प्रकार गोपियों ने क्यों कहा ?

इस शंका के समाधान में गोपियां कहती हैं ।

भगवान् की साक्षात् आराधना में भी तारतम्य है ।

यदि तारतम्य नहीं हो तो हम सब गोपियों का त्याग कर उस गोपी को साथ लेकर भगवान् क्यों जाते ? अतः मालूम होता है कि भगवान् के साक्षात् आराधन में भी भेद है ।

यदि कहो कि कर्म सर्वगोपियों का तुल्य है, फिर अवान्तरभेद कैसे ?

इस प्रकार की शंका में गोपियां कहती हैं (भगवान्) आप षडैश्वर्यवान् हैं, सामग्री भेद से कर्म सर्वत्र विलक्षण होते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न सामग्री होने से कर्म भी एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं ।

कर्मों की अवान्तर विलक्षणता ज्ञानस्वरूप भगवान् ही जानते हैं, इसलिये भगवान् कर्मानुसार फल देते हैं, फल से भेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।

यदि गोपियां कहें कि भगवान् को हमारे लिये इस प्रकार का ज्ञान नहीं कराना था, कारण कि इस प्रकार के चरण दर्शन करके हमको दुःख होता है । दुःख साधक ज्ञान कराना भगवान् के लिये उचित नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं (हरिः) वह सर्वदुःखहर्ता है ।

जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये हैं उसमें और अन्य सब गोपियों के कर्म में अवान्तर विलक्षणता बताने के लिये भगवान् ने गोपियों को पददर्शन आदिका ज्ञान कराया है, कारण कि कर्मों के भीतर भेद होने से भिन्न-भिन्न फल दिया है, जो फल भगवान् के साथ जानेवाली गोपी

को प्राप्त हुआ है, वह फल हम सब गोपियों को प्राप्त नहीं हुआ, इस प्रकार का ज्ञान जब गोपियों को हुआ, तब गोपियों ने जाना कि इस प्रकार का कर्म हमने किया है, जिसके कारण उस गोपी और हमारे दोनों के कर्मभेद से फलभेद हो गया है।

हमारे दोष से भगवान् ने हमारा त्याग किया है।

इस प्रकार भक्त को जिस समय अपना दोष स्फुरित होता है, उस समय मत्सरता से उत्पन्न दुःख नहीं होता है।

अब गोपियों में भी मत्सरतादोष—(हमको छोड़कर भगवान् अन्य गोपी को साथ ले गये), नहीं रहा।

यदि कहो कि उस गोपी की और हमारी सबकी भक्ति तो तुल्य है, फिर भगवान् ने भक्ति के अनुसार तुल्यफल क्यों नहीं दिया। तुल्य फलत्व से कर्म स्वीकार क्यों किया।

कर्ममार्ग में कर्मानुसार फल मिलता है, मान लिया जाय कि उस गोपी का कर्म और हमारा कर्म विलक्षण है, किन्तु भगवान् ने हमारा भक्तिमार्ग में अङ्गीकार किया है, वह गोपी भी भक्तिमार्गीया है, इसलिये हमारे तुल्य है, यदि भगवान् हमारी तरह उस गोपी को भी केवल भक्ति का अङ्गीकार करे तो हमारे सबके तुल्य वह गोपी भी हो, किन्तु उस गोपी में आराधनबललक्षण कर्मविशेष है, अधिक है, इसलिये भगवान् ने उस गोपी का कर्ममार्ग स्वीकार क्यों किया।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (ईश्वरः) भगवान् ईश्वर है, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, और किसी समय फल देने में भक्ति का अङ्गीकार करता है, किसी समय कर्म स्वीकार करता है, और किसी समय अपनी इच्छा स्वीकार करता है, ईश्वर का कोई नियमन नहीं कर सकता है।

हमारा भगवान् भक्तिमार्ग में योजन करता है, कर्ममार्ग में नहीं करता है, अतएव हम सबको छोड़कर गोविन्द, साधारण इन्द्र भी एकान्त में प्रसन्न हुआ, उसी गोपी को साथ ले गया है।

साधारण इन्द्र कहने का तात्पर्य इस प्रकार है कि—

'इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य च'। इस गोवर्धनलीला प्रसङ्ग के वाक्य से साधारणतया भगवान् सभी गोकुल के इन्द्र हैं, किसी एक के विशेषता से नहीं हैं, फिर भी एक गोपी को साथ ले गये, इसलिये सर्वसाधारण गोकुल के इन्द्र को हमारी अपेक्षा विशेषता से एक गोपी का भोग करना यद्यपि अनुचित है, तथापि ईश्वर होने के कारण सर्व बात उचित ही है।

कामरस स्त्रीसमूह की अपेक्षा भी एक स्त्री में ही मुख्यता से उत्पन्न होता है।

भगवान् हम सबको छोड़कर जिस गोपी को साथ ले गये हैं, उसमें प्रीति हेतु है, अर्थात् इस गोपी के ऊपर भगवान् प्रसन्न हो गये, इसलिये अपने साथ ले गये हैं।

भगवान् के प्रसन्न करने में भक्ति, अथवा कर्म हेतु है॥ २८॥

(सुबो०) एवं तस्या भाग्यमभिनन्द्य मात्सर्येऽपि गूढे तथा वचनं भवतीति स्वभाग्याभिनन्दनमप्याहुः धन्या इति।

इस प्रकार जिस गोपी को भगवान साथ लेकर पधारे थे, उस गोपी के भाग्य की प्रशंसा गोपियों ने की, किन्तु इस प्रकार के वचन गुप्तमात्सर्य में भी कहे जाते हैं कि भगवान का आराधन तो एक इसीने किया है, हमने क्या किया है, जिससे इस गोपी को भगवान साथ ले गये।

गोपियों ने गुप्तमात्सर्य से इस गोपीकी प्रशंसा नहीं की, इस बात को सूचन करने के लिये गोपियां अपने भाग्य का भी अभिनन्दन करती हैं, अर्थात् आगे श्लोक में गोपियां चरण सम्बन्ध से रेणुओं को धन्यता कहकर हमको भी भगवान् के चरण का सम्बन्ध हुआ है, इसलिये हम सब भी धन्य हैं, इस प्रकार कहती हैं।

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥ २९॥

पदपदार्थ—(अहो) आश्चर्य है, (हे आल्यः) हे सखियो। (अमी) ये सब (गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः) गोविन्द के चरणकमल की धूलियां (धन्याः) धन्य हैं (यान्) जिन रजों को (ब्रह्मा) प्रजापति (ईशः) महादेव (रमा) लक्ष्मी (देवी) देवता रूप पालन करनेवाली शक्ति (अघनुत्तये) पाप दूर करने के लिये (मूर्ध्नि) मस्तक पर (दधुः) धारण करते हुए॥ २९॥

भाषार्थ—हे आलियो ! आश्चर्य की बात है कि गोविन्द के चरणकमल की रज धन्य है, जिस रज को ब्रह्मा, शिव और रम देवी ने अपने पाप दूर करने के लिये मस्तक पर धारण किया है॥ २९॥

(सुबो०) अहो आश्चर्ये, हे आल्यः सख्यः, अमी अंघ्रिरेणवो धन्याः। मात्सर्याभावार्थं चैतदुच्यते। यथा रेणवः, तथा सेति। विश्वासार्थं अप्रतारणार्थं च सम्बोधनम्। अनेन रेणूत्कर्षेण रेणव एव धार्याः स्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्युक्तं भवति। पूर्वमत्रैव ते रेणवः स्थिताः, न तदा तेषामुत्कर्षः, यदा पुनश्चरणसम्बद्धाः, तदा धनमर्हन्तीति। धनं कृष्णः, यथेन्द्रो देवानाम्। यथा धनेन सर्वविषयप्राप्तिः एवं प्रभुणापि। तेषां धन्यत्वमुपपादयन्ति यानिति। ब्रह्मा ईशो रमा च देवतारूपा पालिका शक्तिः। तेषां स्वस्वाधिकारे दोषसम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं मूर्ध्नि दधुः। ब्रह्मानन्दरूपाया निवृत्त्यर्थं देवतापदम्। अतः कारणादेतद्धारणेन वयमपि निर्दुष्टाः नीयमानगोपिकातुल्या भविष्याम इति॥ २९॥

अहो शब्द आश्चर्य अर्थ में है, हे आलियो ! हे सखियो ! भगवान् के ये चरणरेणु धन्य हैं।

गोपियों में मात्सर्य दोष नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये गोपियां कहती हैं कि जिस प्रकार गोविन्दचरण-स्पर्श से रेणु धन्य हैं, उसी प्रकार जिस गोपी को भगवान् एकान्त में अपने साथ ले गये हैं, वह गोपी भी धन्य है।

विश्वास के लिये तथा झूठी बात कहकर न ठगने के लिये 'हे आल्य' सम्बोधन दिया है, जिससे सब गोपियां वञ्चन वाक्य न समझकर वचन पर विश्वास करें।

इस प्रकार गोपियों ने भगवान् के चरणरज की श्रेष्ठता बताकर यह सूचन किया है कि अपने दोष निवृत्त करने के लिये भगवान् की चरणरज ही धारण करनी चाहिये।

पहले यहां इसी स्थान में रज स्थित थी, किन्तु उस समय रज का उत्कर्ष नहीं था, जिस समय फिर रजसे भगवान् के चरण का सम्बन्ध हुआ उस समय रज धन के योग्य हुईं।

धन कृष्ण है, अर्थात् जिस प्रकार देवताओं का धन इन्द्र है, उसी प्रकार हमारा धन कृष्ण है, जिस प्रकार धन से सर्व विषय की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार प्रभु से सर्वविषय-सर्वपदार्थ की प्राप्ति होती है।

अब गोपियां रज का धन्यत्व प्रतिपादन करती हैं, (यान्) ब्रह्मा, शिव, रमा—लक्ष्मी देवतारूप पालन करनेवाली शक्ति, उक्त सर्वदेवता अपने-अपने अधिकारानुसार कार्य करते हैं,

उसमें देवताओं को दोष भी सम्भव होता है, कारण कि अधिकार में दोष अवश्य करके होता ही है, इसलिये अपने-अपने दोष निवृत्त करने के लिये देवताओं ने भगवान् की चरणरज मस्तक पर धारण की है।

भगवान् की चरणरज जिसके मस्तक पर स्वयं स्थित होती है। उसका दोष दूर करके उसमें स्वयं योग्यता सम्पादन करती है।

यहां पर लक्ष्मीजी का वर्णन करने में ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मी का वर्णन नहीं किया है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मूल में 'देवी' देवता पद कहा है।

इस प्रकार भगवच्चरण रज का महत्त्व बतलाकर गोपियां कहती हैं कि इसी कारण से भगवान् की चरणरज धारण करके हम सब भी निर्दुष्ट-दोषरहित होकर जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं, उस गोपी के तुल्य हो जायेंगी अर्थात् निर्दोष हो जाने पर भगवत्प्राप्ति हो जायेगी ॥ २९ ॥

(सुबो०) अन्या रजःप्रकृतय आहुः तस्या इति ।

अब रजोगुण भाववाली गोपियां कहती हैं।

पहले २५, २६, २७ इन तीन श्लोकों में सत्त्वप्रधान तीन गोपियों का वर्णन किया, फिर २८, २९ दो श्लोकों में गुणातीत गोपियों के दो वाक्य कहे, अब आगे रजोगुण प्रधान गोपियों के तीन वाक्य कहते हैं।

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—(या) जो (एका) एक गोपी (अपहृत्य) भगवान् को अपने साथ ले जाकर (यत्) जिससे (गोपीनां) हम सब गोपियों का भागरूप (अच्युताधरम्) अच्युत भगवान् के अधरामृत का (रहः) एकान्त में (भुङ्क्ते) पान करती है (तस्याः) उस गोपी के (अमूनि) ये सब (पदानि) चरण (नः) हमको (उच्चैः) अत्यन्त (क्षोभं) क्षोभ को (कुर्वन्ति) करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो एक गोपी भगवान् को साथ ले जाकर हम सब गोपियों का भागरूप अच्युत भगवान् का अधरामृत एकान्त में पान करती है, उस गोपी के ये सब चरण हमको अत्यन्त क्षोभ करते हैं ॥ ३० ॥

(सुबो०) भगवच्चरणारविन्दरजस्तथैव, परमस्याः गोपिकायाः अमूनि पदानि सङ्गे गच्छन्त्याः नोऽस्माकं क्षोभं कुर्वन्ति । तत्राप्युच्चैरत्यर्थम् । नन्वेकाकी भगवान् गच्छेत्, तदपेक्षया ससहायो भक्तिमार्गे युक्त इति चेत् तत्राहुः । यद्यस्मात् गोपिकानां सर्वासामेव भागरूपमच्युताधरं ता विहाय एकैवोपभुङ्क्ते । तत्रापि रहः एकान्ते तासामनुज्ञाव्यतिरेकेण । ननु विरतो भगवान् बह्वीसम्बन्धाद्भविष्यति, कुतः सा भोक्ष्यते, तत्राहुः अच्युतेति । सहि पूर्णकाम एव, न तस्य च्युतिरस्ति ॥ ३० ॥

गोपियां कहती हैं कि भगवान् के चरणारविन्द की रज तो धन्य ही है, परन्तु भगवान् के साथ जानेवाली गोपी के ये सब चरण हमको क्षोभ करते हैं, उसमें भी अत्यन्त क्षोभ करते हैं।

यदि कहो कि भगवान् के इकले जाने की अपेक्षा दूसरे सहायक के साथ जाना भक्तिमार्ग में योग्य ही है।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि क्षोभ होने का कारण यह है कि हम सब गोपियों का ही भागरूप अच्युत भगवान् का जो अधरामृत है, उस अधरामृत का पान हम सबको छोड़कर यह गोपी अकेली ही करती है, उसमें भी एकान्त में हब सब गोपियों की आज्ञा बिना करती है।

यदि कहो कि भगवान् ने पहिले बहुत-सी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध किया है, अब इस समय विरत भगवान् उस गोपी का भोग कैसे भोगेंगे।

तब इस शङ्का के उत्तर में गोपियां कहती हैं, (अच्युतेति) वह भगवान् पूर्ण काम ही है, उसकी कभी च्युति नहीं है, इसलिये उस गोपी का भोग करने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

(सुबो०) अन्या पुनस्ततोऽपि खेदं कृतवत्य इत्याह न लक्ष्यन्त इति ।

अन्य गोपियां पूर्वोक्त गोपियों से भी विशेष खेद करती हुई इस बात को कहती हैं।

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (तस्याः) जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये हैं, उस गोपी के (पदानि) चरणचिह्न (न) नहीं (लक्ष्यन्ते) दीखते हैं (नूनं) निश्चय (तृणांकुरैः) तृण के अंकुरों से (खिद्यत्) खेद को प्राप्त हुई (सुजातांघ्रितलाम्) सुन्दर कोमल चरण तलवाली (प्रेयसी) प्यारी गोपी को (प्रियः) प्यारा कृष्ण (उन्निन्ये) ऊंची उठाता हुआ।

भावार्थ—इस स्थान में जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं उस गोपी के चरण नहीं दीखते हैं, निश्चय तृण के अंकुरों से उस गोपी के कोमल चरण तल में, जिस समय खेद हुआ है, उस समय प्रिया को प्यारे ने ऊँचे उठा लिया है ॥ ३१ ॥

(सुबो०) अहो किमिति विचार्यते । अधरामृतं पिबतीति । एतावद्दूरे समागतानि तस्याः पदानि अग्रे न लक्ष्यन्ते । न च वक्तव्यं समीचीनं जातमिति, तत्राहुः । तस्याः तृणाङ्कुरैः खिद्यद् पादतलं जातम् । तदा तादृशीमुन्निन्ये, ऊर्ध्वं नीतवान् । कटिभागे स्कन्धभागे वा । वस्तुतस्तु हस्ताभ्यामेवोद्धृतवानिति सुतरां खेदे हेतुः । ननु कथमेवं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः प्रेयसीमिति । साप्यत्यन्तं प्रिया, स्वयमपि तस्याः प्रियः । अतो ज्ञायते न सा स्कन्धमारूढा, किन्तु केवलमुन्निन्ये ॥ ३१ ॥

गोपियां कहती हैं कि हे गोपियो ! वह गोपी भगवान् के अधरामृत का पान करती है, इसका क्या विचार करती हो, देखो इतने दूर तक उस गोपी के चरण भगवान् के चरणों के साथ-साथ आये हैं, आगे नहीं दीखते हैं।

यदि कहो कि यह तो बहुत ही अच्छा हुआ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (शिलतृणांकुरैः) उस गोपी का जिस समय तृणाङ्कुरों से पादतल खेद को प्राप्त हुआ है, उस समय भगवान् दुःखी गोपी को कटि भाग पर

अथवा स्कन्धभाग पर ऊँचा उठा कर ले गये हैं, वास्तव में तो हाथों से उठाकर ले गये हैं, यह विशेष खेद में हेतु कहा है :

यदि कहो कि भगवान् इस प्रकार क्यों करेगा ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं (प्रेयसीं) वह गोपी भगवान् को अत्यन्त प्यारी है और उस गोपी को स्वयं भगवान् भी अत्यन्त प्यारे हैं, इसलिये ज्ञात होता है कि वह गोपी कन्धे ऊपर नहीं चढ़ी, किन्तु भगवान् ने केवल दोनों हाथों से ऊँचे उठा ली है ।। ३१ ।।

और गोपियां कहती हैं कि इस प्रकार से उस गोपी को दोनों हाथों से ऊँचा उठाकर भगवान् का जाना बहुत दूर तक सम्भव नहीं होता है, इसलिय किसी स्थान पर विश्राम करके उस गोपी के लिये भगवान् पुष्पों को चुनते हैं । इस बात को आगे श्लोक में गोपियां कहती हैं ।

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥ ३२ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (प्रेयसा) प्यारे ने (प्रियार्थे) प्यारी के लिये (प्रसूनावचयः) वृक्षों से पुष्पों का चुनना (कृतः) किया है (प्रपदाक्रमणे) चरणों के अग्रभाग से आक्रमण जिनमें, अर्थात् पादाग्रभाग से खड़े होने से (असकले पदे) सम्पूर्ण पद-चिह्न नहीं, आधे पदों का चिह्न (एते) ये दोनों (पदे) चरणों को (पश्यत) देखो ॥३२॥

भाषार्थ—यहां इस स्थान में प्यारे ने प्यारी के लिये वृक्षों से पुष्प चुने हैं, देखो चरणों के आगे का भाग ऊँचा करने से आधे चरणचिह्न दीखते हैं ।। ३२ ।।

(सुबो०) प्रसूनानामवचयो वृक्षादुत्तारणम् । न च स्वार्थं भविष्यतीति शङ्कनीयम् । सा हि श्रान्ता । अतः प्रियार्थं एव । सा तु कर्तुमशक्तैव । तदाहुः प्रेयसा कृत इति । साहि भगवदपेक्षया खर्वा प्रपदाभ्यामुत्थातुमप्यशक्ता । अतः प्रेयसैव कृतः । यतः प्रपदाक्रमणे पादाग्राभ्यामेवाक्रमणं ययोः । अत एवासकले, पार्ष्णिभागो नाभिव्यक्त इति । पश्यतेति संदेहाभावार्थं वचनम् ॥३२॥

वृक्षों से पुष्प चुनने को, उतारने को पुष्पों का अवचय कहते हैं, वृक्षों से पुष्पों को भगवान् अपने लिये चुनते हैं, इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, कारण कि वह गोपी श्रान्त-थक गई है, इसलिये अपनी प्यारी के लिये ही भगवान् पुष्पों का चयन करते हैं ।

वह गोपी थक गई है, इसलिये फूल चुनने का उसमें सामर्थ्य नहीं रहा, इस बात को गोपियां कहती हैं 'प्रेयसाकृतः' प्यारे ने पुष्पावचय किया है ।

और एक बात यह है कि वह गोपी भगवान् की अपेक्षा छोटी है, वृक्ष ऊँचे हैं, इसलिये चरण के आधे भाग को ऊँचा करके भी इसमें पुष्प चुनने का सामर्थ्य नहीं है, इसलिये इसने नहीं, भगवान् ने ही पुष्प चुने हैं । इसी कारण से यहां भगवान् के आधे चरण चिह्न का दर्शन हो रहा है, अर्थात् अग्र भाग का दर्शन होता है, पश्चात् एड़ी का भाग प्रकट नहीं हो रहा है, तुम सब देखो ? इस प्रकार गोपियां अन्य गोपियों से संदेह दूर करने के लिये 'पश्यत' देखो । इस प्रकार कहती हैं ।। ३२ ।।

(सुबो०) ततोप्यन्या अधिकमेव सूचयन्त्य आहुः केशप्रसाधनमिति ।

अब आगे उक्त गोपियों से भी अन्य तमःप्रधान दो गोपियां पूर्व से अधिक सूचना करती हैं ।

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

पदपदार्थ—(अत्र) इस स्थान में (तु) तो (कामिना) कामी भगवान् ने (कामिन्याः) कामिनी गोपी के (केशप्रसाधनं) केशों का प्रसाधन (कृतम्) किया है (तानि) उन केशों की (चूडयता) चुटिया करता हुआ (इह) इस स्थान में (ध्रुवम्) यह बात सत्य है (कान्ताम्) कान्ता के (उपविष्टम्) समीप में बैठा है ।। ३३ ।।

भाषार्थ—इस स्थान में तो कामी भगवान् ने कामिनी स्वामिनी के केश गूंथे हैं, केशों को गूंथता हुआ यहां पर निश्चय कान्ता के समीप कान्त बैठा है ।। ३३ ।।

(सुबो०) नखैरेव केशानां प्रसाधनम्, वेण्याकारेण आपीडाकारेण वा । तुशब्दोऽन्यथा पक्षं व्यावर्तयति । न ह्यत्र ज्ञानोपदेशः सम्भवति । तदाहुः कामिन्याः कामिना कृतमिति । एतत् उत्थायापि भवति । चूडायां पुष्पप्रवेशनं तु उत्थिते न भवति । क्रोडे पुष्पाणि स्थापयित्वा क्रमेण तानि निवेशनीयानि । अतः तानि चूडयता इहोपविष्टम् । ध्रुवमिति सत्यम् । कान्तामुप कान्तासमीपे । कान्तामुद्दिश्य वा । तथैवाकृतिर्दृश्यत इति ॥ ३३ ॥

इस स्थान में वेणी के आकार से अथवा मुकुट के आकार से कामी भगवान् ने कामिनी गोपी के केशों में पुष्प अपने नखों से ही गूंथे हैं ।

मूल का 'तु' शब्द अन्य पक्ष का व्यावर्तन करता है, अर्थात् इस स्थान में नखों से ही केश गूंथन किया है, अन्य कार्य नहीं किया है, कारण कि इस स्थान में ज्ञानोपदेश सम्भव नहीं होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं, 'कामिन्याः कामिना कृतम्' कामी भगवान् ने कामिनी का केश गूंथन किया है ।

केश प्रसाधन तो खड़े होकर भी हो सकता है, किन्तु चुटिया में पुष्पों का प्रवेश करना खड़े होकर नहीं हो सकता है, चुटिया में पुष्पों को क्रम से यथावत् लगाना बैठकर अपनी गोदी में पुष्पों को रखकर ही होता है, इसलिये पुष्पों से केशों की चुटिया करते हुए भगवान् यहां बैठे हैं । यह बात सत्य है ।

कान्ता के समीप में अथवा कान्ता का उद्देश करके-सामने करके यहां बैठे हैं । इस स्थान पर इसी प्रकार की आकृति का दर्शन हो रहा है ।। ३३ ।।

(सुबो०) एवं रसार्थं तस्यानयनं सामग्रीसम्पादनमलङ्करणं चोक्तम् । यदर्थमेतावत्तदाहुः रेम इति ।

इस प्रकार रस के लिये एक गोपी द्वारा भगवान् को एकान्त में लेकर जाना, तथा सर्व सामग्री सम्पादन करना, एवं अलङ्करण करना कहा, अब आगे जिस कार्य के लिये उक्त कार्य किया, उसको गोपियां कहती हैं ।

रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ।। ३४ ॥

पदपदार्थ—(आत्मरतः) आत्मा में रतिवाला (आत्मारामः) आत्मा में ही क्रीडावाला (अखण्डितः) पूर्णानन्द भगवान् (अपि) भी (कामिनां) कामी पुरुषों की (दैन्यं)

दीनता (च) और (स्त्रीणां) स्त्रियों की (दुरात्मतां) दुष्टता को (दर्शयन्) दिखाते हुए (तया) उस गोपी के साथ (रेमे) रमण करते हुए ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—आत्मरत आत्मराम अखण्डित-पूर्णानन्द भी भगवान् कामियों का दैन्य तथा स्त्रियों की दुरात्मता को दिखाते हुए उस गोपी के साथ रमण करते हुए ॥ ३४ ॥

(सुबो०) पुष्टत्वात् कामस्य आत्मरतः तया च सह रेमे। चकारात् लक्ष्म्या च। अन्तः प्रविष्टाभिर्वा। सापि रेम इति वा। आत्मन्येव रतिर्यस्य। तेन निष्काम एव तस्या यथेच्छं कामं पूरितवान्। अस्यामपि दशायामात्मरत एव, रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान्। आत्मन्येव मुख्या रतिः आत्मन्येव रमणं क्रीडा च यस्य। यतः अखण्डितः इन्द्रियैरन्तःकरणैर्विषयैर्वा। यदि स्वानन्दोऽन्यत्र गच्छेत्, तदान्यत्र रतो भवेत्। ननु कथमेवमसमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन एवं रमणं कृतवानिति, तत्र प्रयोजनमाहुः कामिनां दर्शयन् दैन्यमिति। कामिनस्त्वेवमेव दीना भवन्ति। 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा' इति तेषामनुकरणं करोति। अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात्। प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याहुः स्त्रीणामिति। स्त्रीणां च दुरात्मता प्रदर्शिता। न तासां काचिदशक्तिरस्ति, नापि सौकुमार्यम्, किन्तु वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति। 'शालावृकाणां हृदयान्येता' इति। अत उभयबोधनार्थमेवं रेमे ॥ ३४ ॥

काम पुष्ट हो गया, इसलिये आत्मा में रति करनेवाले भगवान् उस गोपी के साथ रमण करते हुए। अर्थात् जिस प्रकार लौकिक कामी महान् भी केवल स्वार्थपर होता हुआ स्वयं जिस समय सुखी होता है, उस समय अपना कार्य साधन करने में दुःखी का अनुसंधान नहीं करता है, उसी प्रकार भगवान् आत्मारामत्वलक्षण अपने धर्म का अतिक्रमण करता हुआ, तथा हमारे सबके दुःख का विचार न करके और स्वार्थ के लिये ही उक्त सर्व सामग्री आदि संपादन करके स्वयं उद्भट भाववाला, उद्भट भाववाली ही गोपी के साथ रमण करता हुआ इस आशय से सुबोधिनी में 'पुष्टत्वात्' कहा है।

तो जिस भगवान् को अपने आत्मारामत्व धर्म का ही विचार नहीं है, उसको पर धर्म का विचार न हो तो क्या आश्चर्य की बात है।

इस प्रकार 'आत्मरत' शब्द का अर्थ स्वार्थपर होता है, इसलिये श्लोक में पुनरुक्ति नहीं है, काम का पोषण करने से आत्मरत-स्वार्थपर भवगान् हो गये, और उस गोपी के साथ रमण करते हुए।

यहां आत्मरत में तथा उस गोपी के रमण करने में काम पोष हेतु है, 'आत्मरत आत्मक्रीड आत्ममिथुनः' इस श्रुति में कहा भगवान् का धर्म भंग न हो जाय, इसके लिये मूल श्लोक में 'च' शब्द कहा है, और 'च' शब्द कहने का आशय यह है कि भगवान् ने लक्ष्मी के साथ, अथवा अन्तर्गृहगता गोपियां जो सायुज्य को प्राप्त हुईं भगवान् के भीतर प्रविष्ठ थीं, उनके साथ रमण किया है, अथवा 'च' शब्द का अर्थ यह भी होता है कि वह गोपी भी रमण करती हुई।

अतः यह सिद्ध हुआ कि लक्ष्मी तथा गोपी भगवान् से भिन्न नहीं हैं, इस लिये श्रुति में कहा भगवान् का धर्म भंग नहीं होता है।

जिसकी आत्मा में ही रति होती है, वह आत्मरत कहलाता है, इस प्रकार सकाम होते हुए भी भगवान् की निष्कामता में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये आत्मारामत्व कहा है।

यदि कहो कि पूर्वोक्त भगवान् का रमण तो निष्कामता को भंग करनेवाला है।

तब इसके उत्तर में कहते हैं कि निष्काम भगवान् ने उस गोपी का यथेच्छ काम पूर्ण किया है, इस दशा में भी भगवान् आत्मरत ही है।

अब प्रकारान्तर से पुनरुक्ति दोष दूर करने के लिये आत्मरत शब्द का अर्थ कहते हैं। 'रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान्'।

भगवान् रसात्मक शृङ्गार रस स्थायिभावात्मक है, इसलिये भगवान् ने विचार किया कि यह गोपी भी शृङ्गार रस का आधार बन जाये, अतः भगवान् ने इस गोपी में शृङ्गार रस स्थायि भावरूप अपना रसात्मक स्वरूप स्थापन किया है।

यदि भगवान् इस गोपी में अपना स्थायिभावात्मक शृङ्गार रस स्वरूप प्रकट करके रमण न करते तो इस रस का अनुभव होना ही सम्भव नहीं होता। कारण कि प्राकृत भाव में उक्त रस का अनुभव नहीं होता है।

अथवा 'आत्मरत' पदका इस प्रकार अर्थ है।

आत्मा में, शृङ्गार स्थायि भावात्मक रस स्वरूप में ही 'रति' आसक्ति जिसकी वह आत्मरति है, और आत्मा में शृङ्गार स्थायि भावात्मक स्वरूप में ही रमण और क्रीडा जिसकी वह आत्माराम है।

'आत्मरत' इस पद में आत्म पद स्वामिनी वाचक है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि भगवान् आत्माराम भी उस गोपी में आसक्त होते उसके साथ रमण करते हुए। प्रथम मूल का चकार विशेष रमण विविध प्रकार के बन्धादि को सूचन करता है, अर्थात् भगवान् ने बन्धादि प्रकार से भी विशेष रमण किया है।

यदि कहो कि इस प्रकार के रमण में तो नखक्षत, दांतो से दंशन आदि कार्य भी संभव होते हैं, इसलिये खण्डित होने से ब्रह्मता नहीं रहती है।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'अखण्डितः' जिस प्रकार भगवान् उस गोपी में आसक्त भी आत्माराम ही है, उसी प्रकार नखक्षत दंशन आदि से खण्डित भी अखण्डित ही है, कारण कि इस गोपी के इन्द्रिय अन्तःकरण और शब्द स्पर्श रूप आदि विषयों से भगवान् खण्डित नहीं हुआ था, अर्थात् भगवान् का स्वरूपानन्द बाह्यइन्द्रिय अन्तःकरण और शब्दादि पांचो विषयों से सम्बन्धित नहीं था, यदि भगवान् का स्वानन्द इन्द्रियादि सम्बन्ध के योग्य होता तो स्थायिभाव स्थापन के विना ही लोक की तरह उस गोपी में भी इन्द्रियादि द्वारा ही भगवान् सुख उत्पन्न करता, किन्तु यह आनन्द अपनी आत्मा के ही सम्बन्ध योग्य है, इसलिये लोक में जो प्रकार है, उसको छोड़कर भगवान् उस गोपी की आत्मा में अपनी आत्मा का स्थापन करके उस आत्मा में रत हुए और क्रीडा करते हुए।

यदि भगवान् का आनन्द अन्यत्र जाये, तो भगवान् अन्यत्र रत आसक्त होता, किन्तु इस प्रकार न करके भगवान् ने अपना स्वरूपानन्द इस गोपी में स्थापित किया, इसलिये इसी गोपी में आसक्त हो, इसके साथ रमण किया है।

यदि कहो कि भगवान् ने इस प्रकार के शय्या आदि सामग्री रहित स्थान में इतना परिश्रम करके इस प्रकार का रमण क्यों किया।

इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी इस प्रकार से रमण करने का कारण बतलाते हैं, 'कामिनां दर्शयन् दैन्यम्' इत्यादि ।

कामी पुरुषों की दैन्य और स्त्रियों की दुष्टता दिखाने के लिये भगवान् ने इस प्रकार का रमण किया है ।

कामी पुरुष इस प्रकार से दीन बन जाते हैं, मेघदूत काव्य में कहा है 'कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाः' काम से दुःखी लोग स्वभाव से कृपण-दीन हो जाते हैं, इसलिये यहां भगवान् कामियों का अनुकरण करता है ।

यदि भगवान् कामियों का अनुकरण नहीं करे तो कामियों को भगवान् में निरोध सिद्ध नहीं हो ।

कामियों में तो दैन्य ही फलित होता है, और कुछ नहीं ।

इस प्रकार का ज्ञान होने पर कामी लोग काम का त्याग करके भगवान् का मनन करें, इसके लिये भगवान् कामियों का अनुकरण करता है ।

अब शुकदेवजी उक्त भगवान् के रमण में द्वितीय प्रयोजन-कारण बतलाते हैं 'स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्' ।

भगवान् ने उस गोपी के साथ उक्त प्रकार का रमण करके स्त्रियों की दुष्टता दिखलाई है, स्त्रियों में किसी प्रकार की अशक्ति नहीं है, और न सुकुमारता ही है, किन्तु जिस समय पुरुष स्त्रियों के वश में हो जाता है उस समय स्त्रियां 'दुष्टता ही करती हैं, 'शालावृकाणां हृदयान्येताः' ऋग्वेद १०।९५।१५ स्त्रियों के हृदय बँदरिया, कुतिया और गधी तुल्य होते हैं, इस प्रकार श्रुति कहती है, अतः कामी पुरुषों की दीनता और स्त्रियों की दुष्टता, इन दोनों का बोध करने के लिये भगवान् ने इस प्रकार से रमण किया है ।

इसमें यहां इस प्रकार का अर्थ जानना चाहिये कि प्रथम भगवान् को आत्माराम कहा है, भगवान् आत्माराम होते हुए भी नायिका के अधीन होकर उसको इस प्रकार से भजता है, इसलिये रसात्मक रसवान् भगवान् ही है, और अन्य कामी तो रसाभासी ही हैं ।

अन्य कामी लोग मल पूर्ण वस्तु में आसक्ति करके बीभत्स रसपूर्ण भ्रान्त होते हैं, और इस प्रकार की स्त्रियों में ही उनको दैन्य मात्र फल की प्राप्ति होती है, यह प्रकार यहां भगवान् ने ज्ञापन किया है ।

भगवान् आत्माराम भी रसपरवश है, रसपरवश में ही मान आदिक होते हैं । अन्य स्त्रियों में तो रस का अभाव है, इसलिये मान नहीं है, किन्तु दुष्टता प्रकट करना ही है, इससे यहां यह सूचन किया है कि आत्माराम भी प्रभु की जहां रति होती है, वहां ही रस है, अन्यों में नहीं है, इस प्रकार यह फलित अर्थ हुआ ॥ ३४ ॥

(सुबो०) एवं सर्ववस्तुयाथात्म्यस्फुरणं भगवदावेशात्तासां निरूपितमुपसंहरति इत्येवमिति ।

इस प्रकार भगवान् के आवेश से गोपियों को सर्व वस्तु के यथार्थ स्वरूप की स्फूर्ति हुई, भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति भगवान् के आवेश से हुई, प्रथम की तरह पद दर्शन से नहीं हुई कारण कि पद दर्शन तो भगवान् के आवेश का कार्य है, स्वरूप स्फुरण में हेतु नहीं है । अतः स्वरूप की स्फूर्ति भगवान् के आवेश से हुई है, इसका वर्णन किया, अब शुकदेवजी आगे आगे श्लोक में उपसंहार करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।

पदपदार्थ—(इति-एवं) इस प्रकार से भगवान् की लीलाओं को (दर्शयन्त्यः) दिखाती हुईं (ताः) पूर्वोक्त ये सब (गोप्यः) गोपियां (विचेतसः) विक्षिप्त चित्त वाली (चेरुः) विचरती हुईं ।

भाषार्थ—इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती विक्षिप्त चित्तवाली ये सब गोपियां बन में गमन करती हुईं ।

(सुबो०) एवं प्रकारेण भगवल्लीलाः प्रदर्शयन्त्यः चेरुः गतिं कृतवत्यः । तासामनेकविधत्वे हेतुमाह गोप्य इति । न हि ताः शास्त्रेण भगवदीया जाताः, किन्तु स्वभावेन । स्वभावस्त्वनेकविध इति सर्वमुपपद्यते । किञ्च, नहि ताः किञ्चित् ज्ञात्वा वदन्ति, किन्तु विचेतस एव । अथवा । एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो जाताः । प्रकारत्रयस्यापि समाप्तत्वात् । अतस्तासां नाग्रे गतिर्न वचनानि ।

इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती हुई गोपियां गमन करती हुईं ।

गोपियां अनेक प्रकार की थीं, इसमें शुकदेवजी हेतु कहते हैं कि 'गोप्यः' ।

गोपियां शास्त्र पढ़ कर भगवदीय नहीं हुईं, किन्तु स्वभाव से ही भगवदीय है, स्वभाव अनेक प्रकार का होता है, इसलिये गोपियों में अनेक प्रकार होने घटित होते हैं ।

गोपियां कुछ जानकर-किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके नहीं बोलती हैं, किन्तु चित्त रहित-विक्षिप्त ही हैं ।

अथवा मूल श्लोक का अन्वय इस प्रकार है 'एवं दर्शयन्त्योविचेतसोजाताः' इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को दिखाती हुई गोपियां विचेतस हो गईं, कारण कि रसासक्ति, हरेः क्रिया, और गर्वाभाव, ये तीनों प्रकार समाप्त हो गए, इसलिये गोपियां न तो आगे ही गईं, और न कुछ बोल ही सकीं ।

इस प्रकार गोपियों का स्वरूप निरूपण करके शुकदेवजी आगे के साढे तीन श्लोकों में जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये थे, उस गोपी का स्वरूप-कार्य सहित मदमान का निरूपण करते हैं ।

(सुबो०) एवमेतासां स्वरूपं निरूप्य, तस्याः स्वरूपं निरूपयति यां गोपीमिति सार्धैः त्रिभिः ।

यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३५ ॥
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३६ ॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३७ ॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३८ ॥

पदपदार्थ—(कृष्णः) कृष्ण (याः) पूर्वोक्त जिन (स्त्रियः) स्त्रियों को (वने) वन में (विहाय) छोड़कर (यां) भगवान् जिसको अपने साथ ले गया उस (गोपीम्) गोपी को (वने) वन में (अनयत्) ले गया था (सा च) वह गोपी (तदा) उस समय (असौ) यह (प्रियः) प्यारा (कामयानाः) काम से प्राप्त हुई (गोपीः) सर्व गोपियों को (हित्वा) छोड़कर (माम्) मुझ को (भजते) भजता है । इस प्रकार (सर्वयोषिता) सर्व स्त्रियों के मध्य में (आत्मानं) अपने को (वरिष्ठं) श्रेष्ठ (मेने) मानने लगी ॥ ३६ ॥ (ततः) इसके अनन्तर (वनोद्देशं) वन प्रदेश में (गत्वा) जाकर (दृप्ता) गर्वित हुई (केशवम्) केशव के प्रति (अब्रवीत्) बोली (अहं) मैं (चलितुं) चलने को (न) नहीं (पारये) पूरा कर सकती हूं (यत्र) जिस स्थान में (ते) तुम्हारा (मनः) मन है, उस स्थान में (मां) मुझको (नयः) ले चल ॥ ३७ ॥ (एवम्) इस प्रकार (उक्तः) कहा गया कृष्ण (प्रियाम्) प्रिया के प्रति (आह) बोला (स्कन्धम्) कन्धे पर (आरुह्यताम्) आप चढो (इति) इस प्रकार भगवान् ने कहा (च) और (ततः) अनन्तर (कृष्णः) कृष्ण (अन्तर्दधे) अन्तर्धान हो गया (सा) वह (वधूः) स्त्री (अन्वतप्यत) भगवान् के अन्तर्धान होने के पश्चात् ताप को प्राप्त हो गई ॥ ३८ ॥

भावार्थ—अन्य गोपियों को छोड़कर भगवान् कृष्ण जिस गोपी को वन में अपने साथ ले गये थे, वह गोपी काम से प्राप्त हुई सर्व गोपियों का त्याग करके यह प्रिय मुझ को भजता है, इस प्रकार सर्व स्त्रियों के मध्य में अपने को श्रेष्ठ मानने लगी, और वहां से आगे अति रमणीय वन प्रदेश में जाकर गर्वित हुई गोपी केशव के प्रति बोली कि अब यहां से आगे मैं चल नहीं सकती, जहां पर आपका मन हो वहां पर मुझे ले चलो ? इस प्रकार जब गोपी ने कहा तब भगवान् ने प्रिया से कहा कि मेरे कन्धे ऊपर बैठ जाओ ? जिस समय वह गोपी कन्धे पर बैठने लगी, उसी समय भगवान् कृष्ण अन्तर्धान हो गया, और वह वधू-अनन्य पूर्वा प्रिया भी पश्चात्ताप करने लग गई ॥ ३५-३८ ॥

सुबोधिनीकारिका—

दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ।
पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ॥ १ ॥

प्रथम इस गोपी को अभिमान दोष हुआ, अनन्तर इसने अभिमान के वचन कहे, भगवान् ने इसके वचनों का उत्तर दिया और, पूर्व की तरह भगवान् तिरोहित हो गये ।

उक्त गोपी का भगवान् ने जो त्याग आदि किया, वह अन्य सब गोपियों को अपने दोष का परिज्ञान कराने के लिये ही किया है, इस गोपी की इस प्रकार की अवस्था देखकर अन्य सब गोपियों को अपने दोष की स्फूर्ति हुई कि हमारे दोष से ही भगवान् ने हमारा त्याग किया है, यह बात आगे ४० वें श्लोक में स्फुट होगी ॥ १ ॥

(सुबो०) यां गोपीं पूर्वमजातदोषां अनयत् । यतः कृष्णः सदानन्दः, तस्यामानन्दं स्थापयितुम् । अन्यास्तु स्त्रियो जाताः । सातु मुग्धैव गोपी । अतस्ता वने विहाय तामनयत् । वनस्थानां विवेको भवतीति ॥ ३५ ॥

पहले भगवान् जिस गोपी में दोष नहीं था, उस गोपी को ले गये, कारण कि भगवान् कृष्ण-सदानन्द हैं । इस गोपी में आनन्द स्थापन करने के लिये एकान्त में ले गये ।

अन्य सब गोपियां स्त्रियां थीं, दोषयुक्त थीं । और जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, वह गोपी मुग्धा थी, इसलिये दोष-युक्त गोपियों को वन में छोड़कर भगवान् उसको ले गये, कारण कि वन में रहनेवालों को विवेक-ज्ञान होता है । इन गोपियों को भी अपने दोष का ज्ञान होगा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार बाहर प्रिय के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध हेतु से मान में दोष कहा है ।

यदि शंका करो कि सभी गोपियों में समान रस था फिर उस समय अन्य सब गोपियों को मान हुआ, और जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये उसको उस समय मान नहीं हुआ, किन्तु इस समय इस गोपी को भी मान हुआ, इसमें कारण क्या है ।

इस शंका का उत्तर देते हुये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि—

कारिकाश्रीसुबोधिनी—

स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याद्यधिकारिणः ।
बुद्धिं स्म नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ॥ १ ॥

स्वगत्ययुक्तकरणात् (इति पाठः सूचितः)

नायिकाओं की प्रकृति में सदा मान रहता है । यहां चालू विषय में तो अबतक नायिका ने नायक भगवान् की अधीनता स्वीकार की है, भगवान् ने भी नायिका के स्वभाव की जो गति-रीति है, उससे अयुक्त-विरुद्ध वर्ताव किया है, अब नायिका की प्रवृत्ति निवृत्ति में कारण अधिकारियों की तरह अविकारी जो स्वभाव गुण अभिमान आदि, प्रौढभाव हैं, वे पूर्वभाव के मलों का नाश करते हुए अर्थात् भगवान् के अधीन जो मलभावों के कारण गोपी हो गई थीं उन कोमल भावों का नाश कर दिया ।

पहले जब मान नहीं था तब भाव कोमल थे, पीछे नायिका के स्वभाव वश से कोमल भावरूप बुद्धि का नाश होने पर यह नायिका भी अन्य नायिकाओं की तरह मानवती हो गई ।

यह मान नायिका का स्वभाव सिद्ध ही है, दोषात्मक नहीं है, 'स्वयं त्व युक्तकरणात्' इस प्रकार के पाठान्तर में अर्थ स्वयं शब्द स्वामिनी वाचक है[1] । शेष अर्थ पूर्व की तरह है ।

यदि शंका करो कि रस की प्राप्ति सभी गोपियों को बराबर हुई, फिर पहले इस गोपी को मान क्यों नहीं हुआ ।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि भगवान् भक्तों के लिये भजनानन्द का दान करने के लिये और स्वयं आप उस रस का अनुभव करने के लिये लीला करते हैं ।

रस का अनुभव बहुत सी प्रियाओं में मिलकर वैसा नहीं होता है, जैसा एक के साथ विशेष रमण में होता है, रस स्वरूपात्मक ही है, इसलिये स्वरूपात्मक रस का स्वरूप भगवान् ने प्रकट किया है, अतः कोई भी आपत्ति नहीं है । पहले मान के अभाव में गोपियों ने ही 'अनयाराधितः' इस २८ वें श्लोक में हेतु कहा है ।

(सुबो०) तदाह । सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये वरिष्ठं मेन इति । चकारः पूर्वसमुच्चयार्थोऽप्यर्थे । तदेति । पूर्वं तस्यास्तथात्वं न जातमिति ।

---

[1] स्वयं स्वामिनी के अयुक्त करने से, नायक के अधीन गोपी की स्थिति थी इससे विरुद्ध करने से ।

अनेन समुदायदोषेण न भगवांस्त्यजति, किन्तु प्रत्येकदोषेणेति ज्ञापितम्। तस्यास्तथा दोषे हेतुः हित्वेति। कामयाना अपि सर्वाः गोपीः हित्वा असौ मां भजत इति। तत्रापि प्रियः, यथैव मम प्रीतिर्भवति, तथैव करोति। न तु क्वचिदप्यप्रियविषयः। अतोऽहं वरिष्ठा। अन्यथानुपपत्त्या तथात्वं कल्प्यते ॥ ३६ ॥

भगवान् के साथ गई गोपी को अभिमान हुआ, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं कि 'सा च मेने तदात्मानं' जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, वह गोपी भी उस समय सर्व स्त्रियों के मध्य में अपने को श्रेष्ठ मानने लगी।

मूल में चकार पूर्व का समुच्चय करने के लिये अपि के अर्थ में है। पहले इस गोपी को इस प्रकार का अभिमान नहीं हुआ, इससे यह सूचन किया कि भगवान् समुदाय के दोष से त्याग नहीं करते हैं, किन्तु प्रत्येक भक्त के दोष से त्याग करते हैं।

इस गोपी के अभिमान का कारण शुकदेवजी कहते हैं 'हित्वेति' कामवाली सभी गोपियों का त्याग करके यह भगवान् मुझको भजता है इस प्रकार का इस गोपी को अभिमान हुआ। उसमें भी भगवान् प्रिय है, जिस प्रकार से मेरी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार को करता है। और अप्रिय–जो मुझको अच्छा नहीं लगता है, उसको नहीं करता है। इसलिये मैं सर्व स्त्रियों में श्रेष्ठ हूं, यह गोपी अन्यथानुपपत्ति से श्रेष्ठता की कल्पना करती हैं ॥ ३६ ॥

(सुबो०) दोषाभावेनैवोत्तमता, न तु धर्मान्तरेण, अतस्तस्या भ्रमः, भ्रान्ताया वाक्यमाह ततो गत्वेति। ततो भोगस्थानादग्रे गत्वा। वनोद्देशमतिरमणीयम्। स्वार्थमयं गच्छति, न तु मदर्थम्। ततश्चान्यार्थं मया कथं खेदः प्राप्तव्य इति दृप्ता। तादृशभगवत्कृपायामनधिकारिणी प्राप्तप्रसादेन जाताजीर्णा ब्रह्मादिभ्योपि मोक्षदातारं देहेन्द्रियादिसर्वरहितं परमानन्दरूपकेशवमब्रवीत्। तस्या वाक्यमाह न पारय इति। अहं चलितुं न पारये। तथापीष्टदेशं गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह। यत्र ते मनः, तत्र मां त्वमेव नय ॥ ३७ ॥

जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये हैं, उस गोपी की उत्तमता दोष के अभाव से ही है, धर्मान्तर से नहीं है। और इस गोपी में जो दर्प दीखता है, वह विप्रयोग रस दान करने के लिये भगवान् ने ही उत्पन्न किया है, इसलिये दोषरूप नहीं है, अतः इस गोपी को भ्रम हुआ है।

जिस प्रकार प्राकृत कामी काम के अधीन हो जाता है, और स्त्री में शक्ति होने पर भी यह कामी मेरे वश में है, जिस प्रकार मैं कहूंगी उसी प्रकार करेगा, यह जानकर अपनी अशक्ति प्रकट करती है, उसी प्रकार इस गोपी में शक्ति होते हुये भी भगवान् मेरे वश में है, इस प्रकार के ज्ञान से अपना असामर्थ्य प्रकट करती हुई भगवान् मुझको कन्धे पर भी चढाकर ले जायेंगे, इस प्रकार का ज्ञान भ्रम हुआ है।

यदि शंका करो कि भ्रम सर्वत्र दोष उत्पन्न करता है, फिर इस गोपी को निर्दोष क्यों बतलाते हो। इस शंका के उत्तर में कहते हैं।

जिस प्रकार भगवान् के रमण में दोषभाव नहीं है, उसी प्रकार सौभाग्य मदमान भी भगवद्भावात्मक हैं, यह बात 'तासां तत्सौभगमदं' इस श्लोक में वर्णन कर आये हैं। उसी प्रकार यहां भी प्रिया के अधीनभाव से भगवान् ने रस दिया है। इसलिये प्रिय मेरे वश में है, यह भाव यहां उत्पन्न हुआ है, दोषरूप नहीं है। यही भाव 'हित्वा गोपीः' यहां कहा है।

अब भ्रान्त हुई गोपी का वाक्य कहते हैं 'ततो गत्वेति' फिर यह गोपी भोग स्थान से आगे अति रमणीय वनप्रदेश में जाकर विचार करने लगी कि यह प्रिय मुझको अपने स्वार्थ के लिये लेकर जाता है, मेरे लिये नहीं लेकर जाता है, तो फिर मैं दूसरे के स्वार्थ के लिये खेद क्यों पाऊं। इस प्रकार गोपी विचार करके दर्पयुक्त हो गई।

कारण कि इस प्रकार की भगवत्कृपा का इस गोपी को अधिकार नहीं था, इसलिये भगवत्प्रसाद से इस गोपी को अजीर्ण हो गया, अर्थात् जिस प्रकार कोई सेर भोजन की जगह दो सेर खा लेता है और उसको भोज्य पदार्थ नहीं पचता है, अजीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार विशेष भगवत्प्रसाद से अभिमान हो गया। फिर ब्रह्मादि देव-देवों को भी मोक्ष देनेवाले देह इन्द्रिय आदि सर्वरहित परमानन्दरूप केशव भगवान् से बोली। उस गोपी का वाक्य कहते हैं, 'न पारये'।

मैं चल नहीं सकती हूं। तो भी इष्टदेश को तो जाना चाहिये। यदि यह कहो तो गोपी कहती है कि जहां तुम्हारा मन है, वहां मुझको तुम ही लेकर चलो।

लोक में जिस प्रकार रमण में दोष है, किन्तु भगवान् के रमण में दोष नहीं है, उसी प्रकार दर्प भी भगवत्सम्बन्धी होने से भगवदीय है, अतः इसमें दोष नहीं है।

इस प्रकार इस गोपी को जब दर्प हुआ तब भगवान् ने विचार किया कि जबतक विप्रयोगात्मक रस का अनुभव नहीं होगा तबतक पूर्ण रस का दान नहीं होगा, इसलिये प्रभु ने संयोग रस देने की इच्छा का संकोच किया। यही भाव क्रियाशक्ति संकोच प्रकाशक 'न पारयेऽहं चलितु'' इससे कहा है। नहीं तो मिथ्या भाषण दोष गोपी को प्राप्त हो जायेगा, भगवदीय भगवान् से झूठ नहीं बोलते हैं। यह भाव तो अतिपूर्ण रस के आविर्भाव से स्तम्भरूप सात्विक भाव होने के योग्य है।

दृप्त शब्द का अर्थ मर्यादारहित है, कही हुई रीति के अनुसार निरवधि रसदान करनेवाले भगवान् की संयोग रसदान संकोच की इच्छा रस मर्यादा वाली नहीं है, इसलिये रस मर्यादा विरुद्ध इच्छा को हेतु होने से रस मर्यादारहित भाव का उदय दृप्ता पद से मूल सुबोधिनी में कहा है।

ब्रह्मा, और शिव क्रम से रज-तम के अधिष्ठाता देवता हैं, इन दोनों का रजतम से उत्पन्न भाव दूर करके भगवान् ब्रह्मा शिव को अमृत-मोक्ष दान करते हैं।

यहां उक्त स्वामिनी में भी पूर्णरस दान करने के लिये ही संयोग उत्पन्न करनेवाले भाव को दूर करने के लिये दृप्तापद से कहा भाव उत्पन्न करना, और अपना तिरोधान ज्ञापन करने के लिये केशवपद कहा हैं।

इस प्रकार पर्यवसान में कही हुई भगवान् की इच्छा को रसमर्यादात्व भी ज्ञापन होता है, 'विप्रयोग विना रस पुष्ट नहीं होता है, अतः संयोग रस संकोच करने की भगवान् की इच्छा को रसमर्यादात्व ज्ञापन किया है।

सुबोधिनी में पहिले वैसी कृपा की अनधिकारिणी तथा अजीर्णत्व जो गोपी को कहा है, वह पूर्व की अपेक्षा सर्वात्मभाव की अधिकता बोधन करने के लिये कहा है। इससे यह

सिद्ध होता है कि जिस प्रकार की अन्य गोपियों में भगवान् की कृपा थी, उसकी अपेक्षा यह गोपी अनधिकारिणी-अर्थात् उन सब गोपियों की अपेक्षा उनसे यह गोपी विलक्षण कृपाधिकारिणी है,—भगवत्प्रसाद प्राप्त होने से अत्यन्त उच्छलित रसवाली है, इस प्रकार यहाँ यह हृदय जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

(सुबो०) तदा भगवानतिचतुरः तद्वाक्यस्योत्तरमाह एवमुक्त इति । प्रियेति कृत्वा उत्तरमुक्तवान् । उत्तरमाह स्कन्धमारुह्यतामिति । एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति । स्वान्तर्गतं रसमभिनेतुम् । तद्भूमौ पदस्थापने ऊर्ध्वंभावाभावात् रसः च्युतो भवेत् । अतः स्वस्कन्धमेवारुह्यतामिति । स एवात्यन्तं नटबटुः यः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनर्त्ति । अशक्यं हि उपदिशति । प्रार्थितं तथेति । भगवतो हि मनः अलौकिकरसाभिनयने, तद् भूमौ पदस्थापने न भवति । अशक्ता चेत् कथं वदेत् । अतो मम तत्रैव मनः । यदि तथा करिष्यति, तदा नेष्यामीति । मह्यनधिकारी नेतुं योग्यः । भगवांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्कन्धसम्भावना । तया तु मोहवशात् तथैव बुद्धम् । ततो मोहवशात् तथा चिकीर्षमाणां तां दृष्ट्वा ततोप्यन्तर्दधे । यतोऽयं कृष्णः सदानन्दः । ततः पूर्ववदेव सापि जातेत्याह सा वधूरन्वतप्यतेति । वधूरिति सा अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था । तथापि गुणातीता । अतः अन्वतप्यत, अनुतापं कृतवती ॥ ३८ ॥

इस गोपी ने 'नय मां यत्र ते मनः' जहाँ तुम्हारा मन हो वहाँ मुझको ले चलो, जब इस प्रकार कहा तब अतिचतुर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका शुकदेव जी वर्णन करते हैं। (एवमुक्तः)।

यह गोपी भगवान् की प्रिया है, इसलिये भगवान् ने उत्तर दिया है, भगवान् कहते हैं कि हे प्रिये। (स्कन्धमारुह्यताम्) कन्धे पर चढ़ो। प्रिया इस बातको न जानती पहिले की तरह प्रिय करेगा इस बात को जानकर 'नय माम्' मुझे ले चल। इस प्रकार क्रिया शक्ति की प्रार्थना करती हुई, परन्तु 'यत्र ते मनः' भगवान् के मन की बात न जानकर 'जहाँ तुम्हारा मन हो वहाँ ले चलो।' यह वचन कहा

भगवान् का मन तो विप्रयोग द्वारा पूर्ण रस दान करने का है, इसलिये पूर्ववत् क्रिया का उद्गम होना अशक्य है।

भगवान् ने संयोग विप्रयोगका अशक्य को ही उपदेश किया है। प्रिया को अपने कन्धे पर चढ़ना अपने को नहीं। आगे रस देने की इच्छा से प्रभु अपने हृदय की बात नहीं जनाते है, अतः प्रिया अपने प्रिय के कन्धे पर चढ़ना जान कर, प्रियके कन्धे ऊपर चढ़ने को उद्यत हुई, उस समय प्रभु तिरोहित हो गये। इस सब बात को हृदय में करके आचार्यों ने कहा है कि (एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति) यह गोपी नृत्य करने की इच्छा करती है।

रसका अभिनय नृत्य से करना चाहिये कारण कि अभिनय नृत्यसाध्य होता है, इसलिये इस गोपी ने भी नृत्य करने की इच्छा की जिस प्रकार नट नृत्यचेष्टा से अपने भीतर स्थित रसको देखने वालों के लिये अनुभव कराता है, उसी प्रकार यह गोपी भी अपने भीतर स्थित रस का बाहर अभिनय करने की इच्छा कर रही है। अर्थात् पहले प्रभुने सर्वथा इस गोपी

के वशमें होकर रसदान किया है, अतः भगवान् के साथ रमण में जिस रसका अनुभव किया था, वह रस इस प्रिया के भीतर स्थित है। इस समय स्वयं उस रसका प्रिय को अनुभव कराने के लिये वाणी क्रिया प्रकट करती है।

यह बात अशक्य है, भगवान् भक्त के स्नेह से ही वश में होकर रमण करते हैं, और प्रकार से रमण नहीं करते हैं, प्रकृत—इस गोपी के विषय में तो 'न पारयेऽहं' मैं नहीं चल सकती हूँ, इत्यादि वाक्य स्नेहरीति से विरुद्ध हैं, जो रसमार्ग से विरुद्ध नहीं वह करना उचित होता है, स्नेहरीति से विरुद्ध नहीं करना चाहिये, किन्तु इस गोपी ने स्नेहरीति से उचित न करके विरुद्ध किया है।

यदि शंका करो कि रसके स्वभाव से प्रिया के भीतर स्थित रस च्युत हो जायेगा तो फिर प्रिय को किसका अनुभव करावेगी। और आगे भगवान् जिस रस का दान करेंगे उसमें प्रतिबन्ध भी हो जायेगा।

तब इस शंका का समाधान करते हैं।

उक्त अभिनयभूमि में पद स्थापन करने पर—भगवान् के साथ चरणों से चलने पर अपने भीतर रहने के स्थान को छोड़कर बाहर अपनी प्रौढता से रस प्रकट हो जायेगा तो रसत्व ही संभव नहीं होगा, कारण कि ऊर्ध्वभाव के न होने से अभिनय किया श्रृङ्गार च्युत हो जाता है, और बोधविषय नहीं होता है, भीतर ही गुप्त रसामृत समुद्र उत्तरोत्तर भाव तरङ्गों का अनुभव करता है, इसको ही ऊर्ध्वभाव कहते हैं, यह ऊर्ध्वभाव ही बाहर प्रकट किया रसत्व से ही बाहर होता है, इसलिये ऊर्ध्वभाव का बाहर होना स्वभाव कहा जाता है।

च्युत—अर्थात् स्वरूप से ही नष्ट हो जाता है।

विरह से आर्ति आदिका प्रकट होना अलौकिक रसका अभिनयन है, और लौकिक रीति से अपनी अधिकता ज्ञापन भूमि में पदस्थापन है, इसके होने पर अलौकिक रसका अभिनयन संभव नहीं होता है। अतः भगवान् ने कहा (स्वस्कन्धमेवारुह्यताम्)।

रसका अपने भीतर अनुभव करना चाहिये, बाहर रस प्रकट नहीं करना चाहिये, रस बाहर प्रकट करने से रसत्व नष्ठ हो जाता है।

'भगवानपि' श्लोक लीला के प्रारम्भ में आनन्द अपना स्थान त्याग करके अन्यथा भाव वाला न हो जाये, इसलिये योगमाया का श्रयण कहा है।

और यहाँ पर तो भगवान् की इच्छा नहीं है, इसलिये योगमाया वहां की तरह नहीं करती है, अतः रस-आनन्दच्युत हो जायेगा, यह कहा है।

जो अपने कंधे ऊपर चढ़कर नाचता है, वही अत्यन्त नट बटु है, यहां वट वेष्टने धातु से कर्ता में 'उ' प्रत्यय हुआ है, नटों में वेष्टक, अपने अंग वेष्टन में चतुर होता है, यह अर्थ है।

सङ्गीतशास्त्र में जहां नृत्यविशेष का वर्णन है वहां अपने कंधे पर चढना कहा है, अपने कंधेपर चढ़ना अतिकठिन है, इसलिये जो नर्तक अपने कंधेपर चढकर नाचता है, वह नट अत्यन्त श्रेष्ठ है, भगवान् इस प्रकार का अशक्य उपदेश करता है, कारण कि गोपी ने इस प्रकार की प्रार्थना की है,

भगवान् का मन तो अलौकिक रस के अभिनयन में है, अलौकिक रस का अभिनयन भूमि में पदस्थापन से नहीं होता है,

यदि यह गोपी अशक्त होती तो जहां तुम्हारा मन हो वहां ले चलो, इस प्रकार वाक्य कैसे कहती, अशक्त होती तो प्रार्थना रीति से कहती किन्तु इसने प्रौढ रीति से सख्यता से वाक्य कहे हैं, अतः अशक्त नहीं है । इसीलिये भगवान् का मन अलौकिक रसके अभिनयन में है, यदि तुम विरह से आर्ति आदि को प्रकट करोगी तो मैं अदृश्य रूपसे ले जाऊंगा । जो अधिकारी नहीं होता है वह ले जाने के योग्य नहीं होता है,

यदि कहो कि यहां भगवान् ने अपने कंधे ऊपर चढने का उपदेश ही दिया है । इसको उत्तर में कहते हैं,

'सत्यं देवानामनृतं मनुष्याणाम्' इस श्रुति के अनुसार भगवान् में साधारण मनुष्यों का धर्म नहीं है, भगवान् कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं, इसलिये भगवान् के कंधे की संभावना नहीं है ।

इस गोपी ने मोहवश से इस प्रकार जाना था कि भगवान् मुझे अपने कंधे ऊपर चढाते को कहते हैं, फिर मोहवश से भगवान् के कंधे ऊपर चढ़ने की इच्छा करनेवाली गोपी को देखकर वहां से भी भगवान् तिरोहित हो गये । कारण कि यह तो कृष्ण सदानन्द है ।

उक्त सुबोधिनी का भाव अन्य प्रकार से भी सम्भव हो सकता है इसको श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं ।

भगवान् ने इस अपनी प्रिया गोपी के लिये अपना पूर्ण रस दिया है, इसलिये इस गोपी के हृदय में भगवान् में स्थित सर्वभाव स्फुरद्रूप हो गये, और सर्व से आधिक्य ज्ञान भी अपने बीच में व स्फुरित हो गया, इस बात को 'कामयान' सर्व गोपियों को छोड़कर भगवान् मेरे वश में हो गये हैं, 'मै सर्व गोपियों में श्रष्ठ हूं' इस प्रकार इस गोपी ने कहा है ।

भगवान् की जब द्वितीय लीला—विप्रयोग-लीला करने की इच्छा हुई, तब वह लीला भी गोपी के हृदय में स्फुरित हुई, इस लीला को कठिन मानती हुई भी भयभीत नहीं हुई किन्तु पूर्वरसके अभिमान से दृढ होती प्रिय से बोली, 'जहां तुम्हारा मन हो वहां ले चलो' यह बात दृप्तापद से कही है ।

ब्रह्मा, शिव दुष्ट गुण व्याप्त वालों को भी भगवान् अमृत देता है, फिर मैं तो भगवान् के गुणों से ही पूर्ण हूं, इसलिये मुझको भगवान् सुख अवश्य ही देगा, दु ख नहीं देगा, इस अभिप्राय को ज्ञापन करने के लिये मूलमें केशव पद कहा है ।

फिर गोपी भोगस्थान से आगे वन-संबंधी उत्कृष्ट देश में स्वयं अपनी इच्छा से गई प्रिय अपनी इच्छा से नहीं ले गये वहाँ जाकर बोली ।

पूर्व उक्ति से प्रिय इस गोपी के निकट ही है, यह ज्ञापन किया है, और इससे गोपी के अधीन ही प्रिय गोपी के संग गया है, यह भी ज्ञापित होता है ।

अथवा वन यह उद्देश नाम मात्र है, वास्तव में तो महारस का निधान है, इससे रसोद्दीपक कहा है । इस प्रकार के वन में मेरे वियोग से यदि प्रिय मुझको ढूंढेगा, तो किस प्रकार का रस उत्पन्न होगा, इस आशय से बोली, अत एव दृप्तात्व कहा है ।

पूर्व रसके अत्यन्त मद से प्रिय यदि पूर्व की तरह लीला करेगा तो मुझमें यहां से हटने का भी सामर्थ्य नहीं है, अर्थात् मेरा जीवन ही नहीं रहेगा, तो फिर क्या करना चाहिये । यदि इस प्रकार की आकाङ्क्षा हो तो गोपी कहती है । 'नय मां यत्र' जिस अन्तर्धान लीला में तुम्हारा मन है, उस अन्तर्धान में मुझको साथ ले चलो, अर्थात् मुझको भी तिरोहित करो । आप

अकेले तिरोहित मत हो, अब प्रिय ने विचार किया कि यह बात तो अशक्य है, इस आशय से उत्तर देता है 'स्कन्धमारुह्यताम्' ।

जिस प्रकार अपने कंधे ऊपर चढना अशक्य है उसी प्रकार तुम्हारा अन्तर्धान करना मुझको अशक्य है । कारणकि पूर्ण ज्ञान शक्ति जहांपर होती है, वहांपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसका विषय न हो, अर्थात् पूर्ण ज्ञान शक्ति वालेसे कोई वस्तु छिपी नहीं रहती है, यद्यपि विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्व से और रसात्मकत्व से जानता हुआ भी अज्ञानी भी हो सकता है, इसलिये यह उत्तर संभव नहीं है, तथापि यहां अति प्रीति विषयत्व से विरुद्ध धर्माश्रय धर्म को पूर्ण नहीं करता हूं, इस प्रकार भगवान का आशय ज्ञापन करने के लिये प्रिया पद कहा है । इसीसे उत्तर भी भगवान् ने दिया है, नहीं तो भगवान् चुप हो जाते, अथवा तिरोहित हो जाते, उत्तर नहीं देते । तुम मेरी प्रिया हो, इसलिये तुम्हारा तिरोधान करना मेरे लिये अशक्य है, प्रियाका तिरोधान करना अनुचित है, मुझमें सामर्थ्य नहीं है, इसलिये आपका स्वतः तिरोधान अपने कंधे ऊपर चढ़ना है, अर्थात् भगवान् के सकाश से तिरोधान करना अपने कंधे ऊपर चढ़ने के तुल्य है ।

इस प्रकार जब यह गोपी भगवान् की प्रिया है, तो प्रिया जिस वस्तु की प्रार्थना करे, वह वस्तु भगवान् को यद्यपि देनी चाहिये, तथापि भगवान् ने प्रियात्व से जो तिरोधान में अशक्यता प्रकट करके हेतु बतलाया है, उस हेतु से गोपी को तिरोहित न करके स्वयं ही तिरोहित हो गये, इस बात को कहा है कि 'ततश्चान्तर्दधे' इस प्रकार तिरोधान में प्रभुनिष्ठ हेतु कहते हैं, (कृष्ण इति) इस प्रकार की दशा में भी हृदय में प्रकट होते हुए ही आनन्दात्मक रसके पोषक हैं, इस प्रकार अर्थ कहा है ।

भगवान् का तिरोधान होने पर यह गोपी पहली अन्य गोपियों की तरह हो गई, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं । (सा वधूरन्वतप्यत) वह वधू ताप करती हुई ।

वह गोपी वधू है, जिसने शृङ्गार रस का अनुभव नहीं किया है, उस नवोढा को वधू कहते हैं, 'वरवध्वोः सुमङ्गलम्' 'वधूप्रवेशः खलु मङ्गलपदः' इत्यादि वाक्यों से उक्त निर्धार किया है, वह वधू अनन्यपूर्वा व्रत करने वालियों के मध्य की है, कारण कि पहले व्रत करने वालियों का ही रासक्रीडा में निरूपण किया है, और उनमें भी यह गोपी अनुताप करने से गुणातीता ही है । नहीं तो क्रोध आदि करती, अनुताप नहीं करती, इसलिये यह गुणातीत ही है, अतः ताप करती हुई ॥ ३८ ॥

(सुबो०) न केवलमन्तरनुतापः, किन्तु तज्जनितो बहिरपि विलापो जात इत्याह—हानाथेति ।

जिस गोपी को भगवान् साथ ले गये थे उस गोपी को भगवान् का तिरोधान होने पर केवल भीतर ही ताप नहीं हुआ, किन्तु उससे उत्पन्न बाहर भी विलाप हुआ, इस बातको शुकदेवजी आगे श्लोक में कहते हैं ।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥ ३९ ॥

पदपदार्थ—(हा) पश्चात्ताप में आपने युक्त नहीं किया (हे नाथ) हे स्वामी (हे रमण) हे रतिवर्धन करने वाले भोक्ता (हे प्रेष्ठ) हे प्रीतिविषय ! (हे महाभुज !) हे बड़ी भुजावाले ! (क्वासि) कहां हो ? (क्वासि) कहां हो ? (ते) तुम्हारी (कृपणायाः) दीन

(दास्याः) दासी (मे) मुझको। (हे सखे !) हे मित्र ! (सन्निधिम्) अपनी सन्निधि को (दर्शय) दिखाओ ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—हा, यह पद पश्चात्ताप में है, आपने अयुक्त किया, हे नाथ ! हे रमण ! हे श्रेष्ठ ! हे महाभुज ! आप कहां हो, कहां हो, हे सखा कृपण-दीन आपकी दासी मुझको समीप में दर्शन दो ॥ ३९ ॥

(सुबो०) हा इति पश्चात्तापे । अयुक्तं कृतमिति । तथापि हे नाथ, त्वमेव स्वामी । अतो दोष एव दूरीकर्तव्यः, न तु त्यक्तव्या । ननु दूरे स्थित्वा पालनं करिष्यामीति चेत्, तत्राह— रमणेति । त्वमेव रतिवर्धको भोक्ता, भोग्यरूपाश्च वयम् । अतो निकट एव स्थातव्यमिति भावः । नन्वनुरोधेन केवलं पालनं करिष्यामि, भोक्तुरिच्छाभावात् । न हि भोग्येच्छया भोक्ता भुङ्क्ते तत्राह—प्रेष्ठेति। न ह्यन्यः प्रीतिविषयोऽस्ति येन जीविष्यामि । अत्यन्तं व्याकुलाया वचनमाह-क्वासि क्वासीति । मोहवशात् अन्धा पतिता च जाता उत्थापनार्थं संबोधयति 'महाभुजेति ।' महान् भुजो यस्य । महती क्रियाशक्तिः । अतो दोष एव दूरीकर्तव्यो, न त्वहम् । यतोऽहं दासी, तत्रापि ते तवैवाहं दासी, स्वभावत एवाहं कृपणा, अनालोचितयाचिका, अतो मद्वचनान्नान्यथा भावः कर्तव्यः । एवं प्रार्थनायां परमकृपालुस्तामुत्थाप्य स्वस्थां कृतवान्, अदृश्यरूपेणैव । तदा पुनराह । हे सखे, स्पर्शेन स्वधर्मारोपात्स्वसंनिधिं दर्शय । वर्तसे निकटे, तथापि यथा सान्निध्यं दृष्टं भवति, तथा कुरु । एवमेव वदन्ती स्थिता । भगवानपि तत्रैव स्थितः ॥ ३९ ॥

हा, यह पद पश्चात्ताप अर्थ में है, जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, और अब छोड़ गये, वह गोपी कहती है कि मैंने अथवा आपने यह बात ठीक नहीं की, तथापि हे नाथ ! आपही मेरे स्वामी हो इसलिये मेरा दोष ही दूर करना चाहिये, त्याग नहीं करना चाहिये ।

यदि भगवान् कहें कि मैं दूरस्थित होकर तुम्हारा पालन करता हूं । तब इसके उत्तर में गोपी कहती है कि (हे रमण) तुमही मेरे लिये रतिवर्द्धक भोक्ता हो, और मैं भोग्य रूप हूं, इसलिये निकट होना चाहिये, यह भाव है ।

यदि भगवान् कहें कि तुम्हारे अनुरोध से केवल पालन करूंगा, कारण कि भोग करने की इच्छा नहीं है । भोग्य की इच्छा से भोक्ता भोग नहीं करता है, किन्तु अपनी इच्छा से भोक्ता भोग करता है ।

तब इसके उत्तर में गोपी कहती है, (हे प्रेष्ठ !) मेरा प्रीतिविषय-स्नेहविषय अन्य कोई नहीं है केवल आप ही हैं, आपके कारण से ही मैं जीवित हूँ, आप ही मेरे जीवन के आलम्बन हो ।

अब अत्यन्त व्याकुल गोपी के वचन शुकदेव जी कहते हैं । (क्वासि क्वासि) कहां हो ? कहां हो ? मोहवश से यह गोपी अन्ध हो गई, और गिर पड़ी, फिर अपने उठाने के लिये भगवान् को संबोधित करती है । (हे महाभुज) महान् है भुजा जिसकी, भगवान् की महती

क्रियाशक्ति है, इसलिये मेरा आपको दोष ही दूर करना चाहिये, मुझको दूर नहीं करना चाहिये, कारण कि मैं दासी हूं उसमें भी आपकी ही मैं दासी हूं, और स्वभाव से ही मैं दीन हूं बिना विचारे मांगने वाली हूँ, उक्त मेरे कहे वचन से आपको अपना अन्यथा भाव-दूसरा भाव नहीं करना चाहिये ।

इस प्रकार गोपी के प्रार्थना करने पर परम कृपालु भगवान् ने इस गोपी को अदृश्य रूपसे ही उठाकर स्वस्थ किया, उस समय फिर यह गोपी बोली, (हे सखे) समान शील व्यसन जिसका हो उसको सखा कहते हैं, इसलिये आप सखा धर्म प्रकट कर अपने स्पर्श से अपने धर्मों का आरोप करके अपनी सन्निधि का दर्शन कराओ ।

यद्यपि आप मेरे निकट में हो, तथापि जिस प्रकार सान्निध्य में दर्शन हो, उस प्रकार को करो ।

इस प्रकार वारंबार कहती हुई गोपी स्थित हो गई, और भगवान् भी वहां ही स्थित हो गये ॥ ३९ ॥

(सुबो०) ततो यज्जातं तदाह—अन्विच्छन्त्य इति ।

पश्चात् जो कुछ हुआ, उसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं ।

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेतसः ।
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४० ॥

(विचेतसः) विक्षिप्त चित्तवाली (गोप्यः) गोपियां (भगवतः) भगवान् के (मार्गं) मार्ग को (अन्विच्छन्त्यः) खोजती हुई (प्रियविश्लेषमोहितां) प्रियके वियोग से मोहित (दुःखितां) दुःखी (सखीम्) सखी को (ददृशुः) देखती हुईं ॥ ४० ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त विक्षिप्त चित्तवाली गोपियां भगवान् का मार्ग खोजती हुईं प्रिय के वियोग से मूर्च्छित दुःखी इस अपनी सखी गोपी को देखती हुईं ॥ ४० ॥

(सुबो०) पूर्वोक्ता गोप्यः भगवन्मार्गमन्विच्छन्त्यः अविदूरत एव तां ददृशुः । तासां क्रोधाभावायाह—दुःखितामिति । न हि दुःखितायां क्रोधो भवति भगवत एव विश्लेषेण दुःखे हेत्वन्तरनिराकरणायाह— प्रियविश्लेषमोहितामिति । भगवत एव विश्लेषेण बह्वयः तां परममोहं मूर्च्छां प्राप्ताम् । सापि तासां सखी । अतः सख्यभावेन बह्वयः तां प्रबोधितवत्यः । 'न दुःखं पञ्चभिः सहेति' ॥ ४० ॥

पहले जिनका वर्णन किया है वे गोपियां भगवान् के मार्ग को खोजती हुईं समीप में ही जिसका भगवान् ने त्याग किया, उस गोपी को देखती हुईं ।

इस गोपी को देखकर अन्य सब गोपियों को क्रोध नहीं आया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं 'दुःखिताम्' कारण यह गोपी भी दुःखी देखी । दुःखी के ऊपर क्रोध नहीं आता है, इस गोपी के दुःखी होने में कोई दूसरा हेतु नहीं है दूसरा हेतु निराकरण करने के लिये शुकदेवजी कहते हैं 'प्रियविश्लेषमोहिताम्' यह गोपी भगवान् के ही वियोग से परम मोह की मूर्च्छा को प्राप्त हो गई है ।

यह गोपी भी अन्य सब गोपियों की सखी है, इसलिये सख्यभाव से बहुत सी गोपियां इसको प्रबोध करने लग गईं ।

नीति शास्त्र में कहा है कि 'पञ्चभिःसह गन्तव्यं स्थातव्यं पञ्चभिः सह। पञ्चभिः सह भोक्तव्यं न दुःखं पञ्चभिः सह' पांचों के साथ जाना, रहना, और भोजन करना चाहिये, पांचों के साथ रहने में दुःख नहीं होता है ॥ ४० ॥

(सुबो०) पूर्वमेताः भगवानेवमेव कौतुकार्थं गतः, न त्वस्मद्दोषेणेति ज्ञातवत्यः । अन्यथा दोषनिराकरणार्थमेव यत्नः कृतः स्यात् । स्वदोषपरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव भवति, न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता, पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगवदिच्छया सर्वं कथितवती । तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह–तया कथितमिति ।

पहिले इन गोपियों ने जाना था कि भगवान् ऐसे ही कौतुक करने के लिये चले गये हैं, हमारे दोष से नहीं गये हैं, इसी बात को जानती थीं, नहीं तो दोष दूर करने के लिये ही प्रयत्न करतीं ।

अपने दोष का ज्ञान तो भगवान् की कृपा से ही होता है, अपने आप नहीं होता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये जिस गोपी को भगवान् अपने साथ ले गये थे, पश्चात् दोष बतलाने के लिये उसका त्याग कर दिया, अतः भगवान् की इच्छा से इस गोपी ने सर्व बात अन्य गोपियों से कह दी, इस वक्तव्य में जो प्रयोजन-जिस प्रकार उस गोपी को मान की प्राप्ति हुई, उसका बोध करनेवाला वाक्य शुकदेवजी कहते हैं ।

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥ ४१ ॥

पदपदार्थ—(माधवात्) लक्ष्मीपति से (मानप्राप्ति) मान की प्राप्ति को (च) और (दौरात्म्यात्) दुष्टता से (अवमानं) अपमान को (तया) उस गोपी द्वारा (कथितम्) कहे वाक्य को (आकर्ण्यं) सुनकर गोपियां (परमं) परम (विस्मयं) आश्चर्य को (ययुः) प्राप्त हुईं ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार माधव से मानप्राप्ति तथा दुष्टता से अपमान प्राप्ति हुई, उस प्रकार का सखी का वाक्य सुनकर गोपियां परम विस्मय को प्राप्त हो गईं ॥ ४१ ॥

(सुबो०) मानप्राप्तिं च माधवात्, अवमानं च दौरात्म्यादिति । तया कथितं यद्यपि बह्वेव श्रुतम्, तत्रैतावानर्थो निर्धारितः । सन्माननं यत्प्राप्तम्, तन्न स्वगुणैः, किन्तु लक्ष्मीपतेरेव गुणैः, लक्ष्म्यंशा एता इति । दौरात्म्यात्स्वधर्मादेव अवमानम् । चकारात् खेदभ्रमादयः । एवं भगवतः अलौकिकं सामर्थ्यं दृष्ट्वा परमं विस्मयं प्राप्ताः । एवं तद्वाक्यैः पदार्थनिर्धारो जातः । अन्वेषणादिना भगवान् न प्राप्तव्य इति ॥ ४१ ॥

माधव-लक्ष्मीपति भगवान् से मान की प्राप्ति को, और दुष्टता से अपमान की प्राप्ति को उस गोपी द्वारा सुनकर, यद्यपि गोपियों ने बहुत सी बातें सुनीं, किन्तु उसमें से गोपियों ने इतना ही अर्थ का निर्धार किया कि जो भगवान् से इस गोपी को सम्मान प्राप्त हुआ, वह अपने

गुणों से नहीं हुआ, किन्तु लक्ष्मीपति भगवान् के गुणों से ही हुआ है, ये सब गोपियां लक्ष्मी जी के अंश हैं ।

और इस गोपी का अपने दुष्टता धर्म से ही अपमान हुआ है । मूल के चकार से खेद भ्रम आदि जानने चाहिये, अर्थात् इसको खेद भ्रम आदि भी अपने दुष्टता धर्म से हुए हैं ।

इस प्रकार गोपियां भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य देखकर परम विस्मय को प्राप्त हो गईं ।

इस प्रकार गोपियों के वाक्यों से पदार्थ का निर्धार हुआ कि अन्वेषण आदि से भगवान् प्राप्त नहीं होंगे ॥ ४१ ॥

(सुबो०) अतः परं भगवत्प्रसादे को हेतुरिति विचार्य, सर्वपरित्यागेन देहपरित्यागपर्यन्तं साधनमिति निश्चित्य, तथा कृतवत्य इत्याह—तत इति ।

अब भगवान् की कृपा-प्रसाद में क्या हेतु है, इसका गोपियों ने विचार किया, विचार करके यह निश्चय किया कि भगवत्प्रसाद में सर्वपरित्याग करके देहपरित्याग पर्यन्त साधन है, इस प्रकार गोपियों ने निश्चय करके उक्त साधन किया, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं ।

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुर्हरेः ॥ ४२ ॥

पदपदार्थ—(ततः) पीछे (यावत्) जहां तक (चन्द्रज्योत्स्ना) चन्द्रमा के प्रकाश से (वनं) वन को (विभाव्यते) प्रकाशित देखा वहांतक (अविशन्) प्रविष्ट हुईं (तमः) अन्धकार को (प्रविष्टं) प्रविष्ट हुआ (आलक्ष्य) देखकर (हरेः) हरि के सकाश से अथवा हरि की सम्बन्धिनी गोपियां (ततः) अन्धकार से (निववृतुः) निवृत्त हो गईं-अर्थात् अन्धकार देखकर लौट आईं ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—पीछे गोपियों ने जहां तक चन्द्रमा की चांदनी का प्रकाश देखा वहांतक वन में गईं, अन्धकार प्रविष्ट हुआ देखकर हरि के सकाश से अथवा हरिसम्बन्धिनी गोपियां अन्धकार से निवृत्त हो गईं, अर्थात् लौट आईं ॥ ४२ ॥

(सुबो०) ततो वनमविशन् । मोहनिवृत्त्यर्थं वनप्रवेशः । वनं गतानामपि चेन्मोहः, तदा किं वनप्रवेशेनेति । चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते, तावद्दूरमेव गताः । अतिनिविडवनं तु न प्रविष्टाः । यदा पुनर्गाढे वने अन्तश्चन्द्रकिरणा न प्रविशन्ति, तदा तत्र तमः प्रविष्टमालक्ष्य, ततो निवृत्ता जाताः । ननु प्रथमं यदुद्योगेन वनं गताः, तदकृत्वा कुतो वा निवृत्ता इत्याशंक्याह–हरेरिति । हरेः सकाशात् हरेः सम्बन्धिन्यो वा । ततः अन्धकारान्निवृत्ताः । न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति । भगवतैव निवर्तिताः ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् गोपियां वन में प्रविष्ट हुईं, भगवद्भाव से अन्य भाव दोषरूप है, इसको ही मोह कहते हैं इस मोह की निवृत्ति के लिये गोपियों ने वन में प्रवेश किया है ।

यदि वन में गये हुए को भी मोह हो, तो फिर वन में प्रवेश करने से क्या प्रयोजन है, अर्थात् कुछ नहीं । फिर वन में जाना व्यर्थ है ।

गोपियों ने चन्द्रमा का प्रकाश जहांतक देखा, वहांतक ही गईं, अत्यन्त निविड-सघन वन में तो गोपियां प्रविष्ट नहीं हुई। कारण कि जहां फिर गाढ वन में भीतर चन्द्र किरण प्रविष्ट नहीं होती हैं, वहां वन में भीतर अन्धकार प्रविष्ट देखकर गोपियां वहां से निवृत्त लौट आईं।

यदि शंका करो कि गोपियां जिस कार्य के करने के उद्योग से प्रथम वन में गई, उस कार्य को बिना किये क्यों लौट कर आईं।

इस शंका का उत्तर देते कहते हैं (हरेः) गोपियां हरि के सकाश से, अथवा हरि भगवान् की संबंधिनी हैं, अतः अन्धकार से लौट कर आईं, कारण कि भगवदीय अन्धकार में प्रवेश नहीं करते हैं, इन गोपियों को भगवान् ने ही अन्धकार से निवृत्त किया है। गोपियां दोष निवृत्त्यर्थ गई थीं, इस चन्द्रमा को स्वामिनीमन रूप तारों की रक्षा करने वाला पूर्व में कहां है, इसलिये चन्द्रप्रकाश रहित देश में दोष ही होगा, दोषनिवृत्त नहीं होगा, अतः लौटकर आ गईं ॥ ४२ ॥

(सुबो०) निवृत्ताः चेत्, गृहं गताः भविष्यन्तीत्याशंकायामाह–तन्मनस्का इति ॥ ४२ ॥

यदि शंका करो कि वन से लौटकर गोपियां घर को चली जायेंगी, तब इस शंका के उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

पदपदार्थ—(तन्मनस्काः) भगवान् में मनवाली (तदालापाः) भगवान् में वाणीवाली (तद्विचेष्टाः) भगवान् में चेष्टावाली (तदात्मिकाः) चित्त में कृष्ण ही हमारी आत्मा है, इस प्रकार की स्वाभाविकी भावनावाली (तद्गुणानेव) भगवान् के गुणों का ही (गायन्त्यः) गान करती हुईं (आत्मागाराणि) देह, घर तथा इनके सम्बन्धी वस्तुओं को (न) नहीं (सस्मरुः) स्मरण करती हुईं ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—इन सब गोपियों का मन भगवान् में था, इनकी वाणी भगवान् में थी, इनके शरीर की क्रिया भगवन्मय थी, इनकी आत्मा भगवान् ही था, अर्थात् गोपियों के चित्त में कृष्ण ही हमारी आत्मा है, इस प्रकार भावना स्वाभाविकी थी, सब गोपियां भगवान् के गुणों का ही गान करतीं देह, घर और इनकी सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण नहीं करती हुईं ॥ ४३ ॥

(सुबो०) ता नात्मागाराणि सस्मरुः। आत्मानं देहम्। अगारं गृहम्। तत्संबन्धीनि च वस्तूनि स्मृतवत्य एव न, कुतो गमिष्यन्ति। अस्मरणे हेतवः। तन्मनस्का इत्यादिभिः पञ्चभिः पदैः पञ्च निरूप्यन्ते, स्मृतिर्मनसि जायते, तन्मनस्तु केवलं भगवत्येव, अतस्तन्मनस्काः भगवन्मनस्का न सस्मरुः। अन्यद्वाराप्यस्मरणार्थमाह—तदालापा इति। अन्या अपि चेदन्यवार्तां कुर्युः, तदा तत्प्रसङ्गात् गृहादिस्मरणं भवति। सर्वा एव तस्मिन् भगवत्येवालापो यासाम्। अतोऽन्यतोऽपि न स्मरणम्। ननु दैहिकी क्रिया क्षुत्पिपासाकृता आवश्यकी, तया देहादिस्मरणं भविष्यतीति चेत्, तत्राह–तद्विचेष्टा इति। तस्यैव भगवतः पूर्ववच्चेष्टाविष्टाः।

ननु तथापि सर्वज्ञानेष्वात्मांशः स्फुरति, घटमहं जानामि, पटमहं जानामीति। अतः कथमात्माऽस्फूर्त्तिः, तत्राह–तदात्मिका इति। स एवात्मा यासाम्। सर्वदा कृष्णात्मभावनैव चित्ते सहजा तासाम्। अत आत्मत्वेन भगवानेव स्फुरति इति न देहादिस्फुरणम्। ननु 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका' इति अदृष्टवशात् कथं न स्मृतिः, तत्राह—तद्गुणानेव गायन्त्य इति। यदि तूष्णीं तिष्ठेयुः, भवेदपि स्मृतिः अन्यासक्तास्तु ताः कार्यान्तरपराः यतस्तस्य भगवतो गुणानेव गायन्ति। गुणैः कृत्वा दुरदृष्टं च नश्यति। अतो नादृष्टद्वारापि स्मृतिबोधः ॥ ४३ ॥

ये सब गोपियां अपनी देह, तथा घर और इनके सम्बन्धी वस्तुओं का स्मरण भी नहीं करती हुईं। फिर घर लौटकर कैसे जायेंगी।

गोपियों को घर आदि का स्मरण नहीं हुआ, इसमें 'तन्मनस्का' इत्यादि पांच पदों से पांच हेतु शुकदेवजी निरूपण करते हैं।

स्मृति मन में उत्पन्न होती है, गोपियों का मन तो केवल भगवान् में ही था, इसलिये 'तन्मनस्का' भगवान् में ही मन लग रहा था, इसलिये देह और घर का स्मरण नहीं हुआ।

अन्य द्वारा भी गोपियों को देह तथा घर का स्मरण नहीं हुआ, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं 'तदालापाः' अन्य गोपियां यदि अन्यवार्त्ता करें तो अन्यवार्ता के प्रसङ्ग में गृह आदि का भी स्मरण हो, किन्तु सभी गोपियों की वार्ता भगवत्सम्बन्धिनी थी, इसलिये अन्य से भी गृहादि का स्मरण गोपियों को नहीं हुआ।

यदि शंका करो कि शरीर की क्रिया भूख प्यास कृत तो स्मरण आवश्यकीय है। उससे देहादि का स्मरण हो जायेगा।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तद्विचेष्टाः' गोपियां भगवान् की ही पूर्व की तरह क्रियाविष्ट हैं, अर्थात् गोपियों में पहिले की तरह भगवान् की क्रियाओं का आवेश है।

यदि कहो कि तो भी सर्वज्ञान में घट को मैं जानता हूँ, पटको मैं जानता हूँ इस प्रकार आत्मांश भी स्फुरित होता है, अतः आत्मा की स्फूर्त्ति होगी, फिर कैसे आत्मा की स्फूर्ति नहीं होगी ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तदात्मिकाः' भगवान् ही गोपियों की आत्मा है, गोपियों के चित्त में कृष्ण हमारी आत्मा है इस प्रकार की भावना स्वाभाविकी है, अतः गोपियों के आत्मत्व से भगवान् ही स्फुरित होते हैं। इस प्रकार गोपियों को देहादि स्फुरण नहीं है।

यदि कहो कि 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' सदृश–किसी एक से पदार्थ का दर्शन, तथा अदृष्ट और चिन्तन आदि स्मृतिबीज के बोधक हैं, इस प्रकार तर्कभाषा में कहा है, इसलिये अदृष्ट आदि के वश से स्मृति का होना सम्भव होता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'तद्गुणानेव गायन्त्यः' यदि गोपियां चुपचाप स्थित रहें तो भी स्मृति हो जाये, किन्तु गोपियों की आसक्ति भगवान् में थी, और कार्यान्तर-अन्य कार्य नहीं करती थीं, गोपियां तो भगवद्गुणगानरूप कार्य में लगी हुई थीं, कारण कि भगवान् के गुणों का गान करती हैं। गुणगान से अशुभ अदृष्ट का नाश होता है, इसलिये अदृष्ट द्वारा भी गोपियों को देहादि की स्मृति नहीं होती है ॥ ४३ ॥

(सुबो०) तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह–पुनः पुलिनमागत्येति।

तो फिर क्या हुआ, इस प्रकार की आकाङ्क्षा में शुकदेवजी कहते हैं।

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षया ॥ ४४ ॥

इति श्रीभागवतमहापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

पदपदार्थ—(पुनः) फिर (कालिन्द्याः) श्री यमुनाजी के (पुलिनम्) तट में (आगत्य) आकर (कृष्णभावनाः) कृष्ण भावनावाली (तदागमनकाङ्क्षिताः) कृष्ण के आगमन की इच्छा (समवेताः) इकट्ठी हुई गोपियां (कृष्णं) सदानन्द को (जगुः) गान करती हुईं ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—गोपियां पहिले श्रीयमुनाजी के जिस पुलिन में थीं, उसी पुलिन में कृष्ण भावनावाली गोपियां भगवत्प्रेरणा से आकर भगवान् के आगमन की आकाङ्क्षा से इकट्ठी हुई कृष्ण सदानन्द का गान करने लग गईं ॥ ४४ ॥

(सुबो०) पूर्वं पुलिने स्थिता यत्र, तत्रैव पुनरागताः । ननु विवेकरहिताः कथं तत्रागताः, तत्राह—कृष्णभावना इति । कृष्ण एव भावना यासाम् । तेन भगवदिच्छया भगवत्प्रेरणया तत्रैव स्थाने भगवान् रतिं करिष्यतीति निश्चित्य, तत् स्थानमस्माकं हितकरमिति तत्रैवागताः । ततः कस्या वा भाग्यात् स्नेहेन कृपया वा आगच्छेदिति संदेहात् समवेता जाताः । तदा साधनान्तरमलभमानाः कृष्णं सदानन्दं जगुः । दोषनिवारणे हरिगुणगानमेव साधनमिति निवृत्ते पुनर्दोषे स्वयमेवायास्यतीति तदागमनकाङ्क्षया जगुः ॥ ४४ ॥

गोपियां पहिले जिस श्रीयमुनाजी के पुलिन में स्थित थीं, उसी पुलिन में फिर आ गईं। यदि कहो कि विवेक-ज्ञान रहित गोपियां पुलिन में कैसे आ गईं।

तब इस शंका के उत्तर में कहते हैं 'कृष्णभावनाः' गोपियों की कृष्ण ही में भावना थी, इसलिये भगवान की इच्छा-प्रेरणा से उसी स्थान में भगवान् रति-रमण करेंगे, इस प्रकार निश्चय करके वही स्थान हमारा हित करनेवाला है, अतः श्रीयमुना पुलिन में आ गईं। पश्चात् न जाने किसके भाग्य से, स्नेह से, अथवा कृपा से, भगवान् आ जाये, इस प्रकार संदेह से गोपियां एकत्रित हो गईं।

उस समय भगवत्प्राप्ति का कोई दूसरा साधन न पाकर कृष्ण-सदानन्द का गान करती हुईं।

गोपियों ने विचार किया कि दोषनिवारण में हरि का गुणगान ही साधन है, और गुणगान करने पर जिस समय सर्वदोषों की निवृत्ति हो जायेगी, उस समय स्वयं ही भगवान् आ जायेंगे। इस प्रकार भगवान् के आगमन की आकाङ्क्षा से गोपियां भगवद्गुणगान करती हुईं ॥ ४४ ॥

(सुबोधिनी कारिका)

श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः ।
समुदायेन भिन्ना वा गतागर्वा असाधनाः ॥ १ ॥

हरेर्गानं प्रियं मत्वा जीवनार्थमपि प्रियाः ।
स्वसंदेहात्तु मिलिता जगुर्नानाविधैर्गुणैः ॥ २ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ॥ २७ ॥

कारिकार्थ—श्रीयमुना तट पर एकत्रित हुई श्रीकृष्ण भगवान् की गोपियां अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा, तथा अनन्यपूर्वा-अग्निकुमार ऋषिरूपा, भेद से दो प्रकार की हैं।

ये सब सात्त्विक, राजस, और तामस इस प्रकार तीन भेद से नव प्रकार की हैं, अर्थात् अन्यपूर्वा सात्त्विक आदि भेद से नव प्रकार की तथा अनन्यपूर्वा भी सात्त्विक आदि गुणों के भेद से नव प्रकार की हैं, इस प्रकार प्रत्येक भेद से अठारह प्रकार की हुईं, उपलक्षण विधि से उन्नीसवीं भी जाननी चाहिये, इसलिये गोपियों के उन्नीस प्रकार हुए।

अथवा 'समुदायेन' समुदायभेद-यूथभेद से नव प्रकार की हैं अर्थात् पहिले पक्ष-गुणभेद पक्ष में प्रत्येक गोपियां सात्त्विकी, राजसी, और तामसी हैं, दूसरे पक्ष में समुदाय से तामसत्व, राजसत्व और सात्त्विकत्व है, अर्थात् कोई यूथ सात्विकी गोपियों का, और कोई यूथ राजसी गोपियों का और कोई यूथ तामसी गोपियों का है, उसमें सात्त्विकी गोपियों का त्रिक, राजसी गोपियों का त्रिक, तथा तामसी गोपियों का त्रिक है, इस प्रकार नव प्रकार के यूथ हैं। यह फलित अर्थ है।

इन दोनों पक्षों को आगे २८ वीं अध्याय की कारिकाओं में स्वयं ही कहेंगे।

ये सब गोपियां गर्वरहित हो गई, निःसाधन थीं, हरि भगवान् को गान प्रिय है, इस बात को जानकर तथा अपने जीवन के लिये गान करना आवश्यक है, इस बात को भी जानकर भगवान् की प्यारी गोपियां किसी के भाग्य से, अथवा किसी के स्नेह से अथवा किसी के ऊपर कृपा करके भगवान् प्रकट हो जायेंगे, इस प्रकार के संदेह से सर्व एकत्रित हो गई। और फिर मिलकर अनेक प्रकार के गुणों से गान करने लग गईं ॥ २ ॥

इति श्रीभागवत सुबोधिनी श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित विरचित दशमस्कन्ध-
तामसफल प्रकरण सत्ताईसवीं अध्याय का उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ
जगन्नाथ चतुर्वेदी कृत भाषा विवरण पूर्ण हुआ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

(श्रीमद्भागवत सुबोधिनीफलप्रकरण तृतीय २८)

अट्ठाईसवीं अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

(सुबोधिनी कारिका)

अष्टाविंशे हरेर्गानं स्वभावादपराधतः ।
कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितीर्यते ॥ १ ॥
एकोनत्रिंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।
एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ॥ २ ॥
राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा ।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥ ३ ॥
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥ ४ ॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।
अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ॥ ५ ॥
सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।
सपूर्वाश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥ ६ ॥
पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥ ७ ॥
अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ॥ ८ ॥
अथवा प्रार्थनाद्यायाः समान्ते द्विविधा पुनः ।
चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ॥ ९ ॥
तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते ।
अन्यथाऽनेकता स्तोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ॥ १० ॥

अब संक्षेप से दो प्रकार की गोपियों का विभाग वर्णन करते हैं।

अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा, पतिवाला गोपियां दश प्रकार की हैं, और अनन्यपूर्वा-कुमारिका नव प्रकार की हैं।

इन सबका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि (१) 'जयति ते' इस श्लोक में सात्त्विक राजसी है (२) 'शरदुदाशये' इस श्लोक में सात्त्विक तामसी है, (३) 'विषजलाप्ययात्' इस श्लोक में

सात्त्विक-सात्त्विकी है, (४) 'न खलु गोपिकानन्दनः' इस श्लोक में निर्गुणा है, 'दिनपरिक्षये' इस १२ वें श्लोक में राजस तामसी है, 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक में राजस-राजसी है, 'सुरत-वर्धनं' इस १४ वें श्लोक में राजस तामसी है, 'अटति यत्' इस १५ वें श्लोक में सत्त्वमिश्र तामसी है, 'पतिसुतान्वय' इस १६ वें श्लोक में तामस-तामसी है, 'रहसि संविदं' इस १७ वे श्लोक में रजोगुण मिश्र तामसी है, इस प्रकार अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा दश प्रकार की हैं।

अब कुमारिकाओं को कहते हैं।

'विरचिताभयम्' इस ५ वें श्लोक में सात्त्विकसात्त्विकी है।

'व्रजजनार्तिहन्' इस ६ वें श्लोक में सात्त्विकतामसी है।

'प्रणतदेहिनां' इस ७ वें श्लोक में सात्त्विकराजसी है।

'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में निर्गुणा है।

'तव कथामृतं' इस ९ वें श्लोक में राजससात्त्विकी है।

'प्रहसितं' इस १० वे श्लोक में राजसतामसी है।

'चलति यद् व्रजात्' इस ११ वें श्लोक में राजसराजसी है।

'व्रजवनौकसां' इस १८ वें श्लोक में सत्त्वमिश्रतामसी है।

'यत्ते सुजात' इस १९ वें श्लोक में रजोगुणमिश्रतामसी है।

इस प्रकार १९ श्लोकों से दो प्रकार की गोपियां कहीं गई हैं।

यह विरहावस्था का ही स्वभाव है, जो कि इसमें गुणगान ही होता है। इसलिये गोपियां 'स्वभावात्' वियोगावस्था के स्वभाव से ही अट्ठाईसवें अध्याय में गान करती हुईं।

'अपराधतः' अब दूसरे पक्ष को कहते हैं।

गोपियों ने अन्य भक्तों से भी अपने बीच में आधिक्य लक्षण अपराध प्राप्त करके भगवान् यदि हमारी प्रार्थना करेंगे तो रसदान करेंगी इस प्रकार मान-लक्षण से भगवान् की अवज्ञा की है, इसलिये अपना दोष दूर करने के लिये गोपियों ने स्तोत्र गान किया, कारण कि अवज्ञा से भगवान् अप्रसन्न हो गये हैं, स्तोत्रगान से भगवान् का प्रसाद होगा, इसलिये गोपियों ने स्तोत्रगान किया है। अथवा स्तोत्र, यह गान का विशेषण है, इसका अर्थ इस प्रकार है, 'स्वभा-वात्' रस स्वभाव से जो अपराध उसकी निवृत्ति के लिये गोपियों ने स्तोत्ररूप गान किया है, आगे गुणों का निरूपण भावविलक्षण करने के लिये है, इस प्रकार जानना चाहिये।

ये सब गोपियां १९ प्रकार की हैं, और अपने-अपने अधिकारानुसार १९ प्रकार की हरि भगवान् की स्तुति करती हुईं ॥ २ ॥

विवरण अब तीसरी कारिका 'राजसीतामसी चैव' श्लोक १ सात्त्विकराजसी का, श्लोक २ सात्त्विकतामसी का, श्लोक ३ सात्त्विकसात्त्विकी का है, श्लोक ४ निर्गुणा का है, इस प्रकार चार प्रकार की पतिवाली श्रुतिरूपाओं का निरूपण किया है।

इसके अनन्तर ७ श्लोकों में सात प्रकार की कुमारिकाओं का निरूपण है, १ गुणातीता २ सात्त्विकी, ३ तामसी ४ राजसी ये सब कृष्णभावना से सिद्ध हो गई हैं।

फिर तीन कुमारिकायें सात्त्विकी तामसी, और राजसी कही हैं।

इस प्रकार सात श्लोक कुमारिकाओं के हैं।

फिर अन्यपूर्वा-पतिवाली श्रुतिरूपाओं के ६ श्लोक हैं।

बारहवां श्लोक 'दिनपरिक्षये' इसमें राजसतामसी है।

'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक में राजसराजसी है।

'सुरतवर्धनं' इस १४ वें श्लोक में राजससात्त्विकी है।

'अटति यद्भवान्' इस १५ वें में देवनिन्दा करनेवाली सात्त्विकतामसी है।

'पतिसुतान्वय' इस १६ वें श्लोक में भगवान् की निन्दा करनेवाली तामसतामसी है।

'रहसि संविदं' इस १७ वे श्लोक में अपनी निन्दा करनेवाली राजस-तामसी है। इस प्रकार आभास में क्रम कहा है।

कारिकाओं में कहे क्रम के अनुसार देवनिन्दा करनेवाली राजसतामसी है, और अपनी निन्दा करनेवाली सात्त्विकतामसी है, इसीसे कारिका में कहा है 'राजसो तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः'।

इस प्रकार कारिका में कहा क्रम अविवक्षित होने से अथवा तात्पर्यान्तर से कारिका में कहा क्रम तथा आभास में कहा क्रम दोनों पक्षों की व्यवस्था जाननी चाहिये। इस प्रकार १२ वें श्लोक से १७ श्लोक तक तथा पहले चार श्लोक मिलकर दश प्रकार की श्रुतिरूपा-पतिवाली गोपियों का वर्णन किया है।

कुमारिकाओं का वर्णन 'विरचिताभयम्' इस ५ वे श्लोक में।

सात्त्विकसात्त्विकी, आभास पक्ष में तथा कारिका में गुणातीता कही है।

'व्रजजनार्तिहन्' इस ६ वे श्लोक में सात्त्विकतामसी।

'प्रणतदेहिनां' इस ७ वे श्लोक में सात्त्विकसात्त्विकी।

'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में निर्गुणा मालूम होती है।

'तव कथामृतम्' इस ९ वें श्लोक में राजससात्त्विकी।

'प्रहसितं' इस १० वें श्लोक में राजसतामसी।

'चलसि यद्व्रजात्' इस ११ वें श्लोक में राजसराजसी।

'व्रजवनौकसां' इस १८ वें श्लोक में सत्वमिश्रतामसी।

'यत्ते सुजात' इस १९ वें श्लोक में रजोमिश्रतामसी है।

इस प्रकार पांच श्लोक से ११ तक सात श्लोक और अन्तिम के २ श्लोक मिलकर ९ श्लोक कुमारिकाओं के हैं।

कुमारिकाओं में तामसतामसी नहीं है, अतः श्रुतिरूपा दश प्रकार की और कुमारिका नव प्रकार की हैं।

इस प्रकार कारिकाओं में कहा १९ श्लोक का विवरण है।

इस प्रकार कारिकाओं में कहा पक्ष वर्णन किया, अनगूढ अनुसंधान से द्वितीय पक्ष कहते हैं। 'अथवा'

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, तथा अन्त में तेरह और चौदह श्लोकों से कुमारिकाओं ने प्रार्थना की है।

इस प्रकार नव श्लोक कुमारिकाओं के हुए।

अन्य प्रौढाओं के नव, दश, ग्यारह, बारह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, और 'नखलु गोपिका' इस चतुर्थ श्लोक की निरूपण करनेवाली गुणातीता-कोमल भाववाली गोपी कुमारिका तथा श्रुतिरूपा दोनों में समान है, अतः १९ श्लोक हैं।

उक्त दूसरे पक्ष में सात्त्विक आदि गुणों का विभाग करना कठिन है, इसीलिये टिप्पणीजी में गूढाभिसन्धि से पक्षान्तर कहा है।

यदि शंका करो कि 'तदागमनकाङ्क्षया' भगवान् के आगमन की आकांक्षा से गोपियों ने गान किया है, इस वाक्य से जिस प्रकार मानापराध से भगवान् तिरोहित हुआ है, उसी

प्रकार स्तोत्र से संतुष्ट होकर आ जायेगा, यह भाव लक्षित होता है, तो फिर दोष रोपण आदि करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार शंका करके गूढाभिसन्धि प्रकट करते स्तुति का स्वरूप १० वीं कारिका से बतलाते हैं। 'तत्तद्वाक्यानुसारेण'।

स्तुति अपने-अपने अधिकारानुसार होती है, गोपियों का इस प्रकार का ही अधिकार है, जिससे गोपियों के 'कुहक' 'कितव' आदि वाक्यों को भी स्तुतित्व है, नहीं तो आगे उक्त वाक्यों का अनुवाद करती भगवान् के आगमन की आकांक्षा से गान करती हुई, इस प्रकार शुकदेवजी नहीं कहते।

भगवान् से इस प्रकार के वचन कहने की ब्रह्मादिकों का भी सामर्थ्य नहीं है, गोपियों ने अपने-अपने स्वभावानुसार ही वचन कहे, और उन वचनों को श्रवण कर भगवान् को परम संतोष प्राप्त हुआ इसलिये गोपियों का भाव ही निरूपण किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो औरों की स्तुति की तरह यहां भी स्तुतित्व ही हो, भावमात्र निरूपण नहीं हो, दूसरी बात यह है कि उपालम्भ-उराहना आदि प्रकार से अनेकरूपता स्तुति में सम्भव नहीं होती है, अतः यहां गोपियों के पृथक्-पृथक् भाव का ही निरूपण है ॥ १० ॥

(सुबो०) तत्र प्रथमं राजस्यः काश्चन गोप्य आहुः—जयतीति।

अब प्रथम कितनी ही राजसी गोपियां कहती हैं।

(सुबो०) श्रीगोप्य ऊचुः।

श्री गोपियां कहती हैं।

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥

पदपदार्थ—(ते) आप के (जन्मना) प्राकट्य से (व्रजः) सभी व्रज (अधिकं) अधिक (जयति) सर्वोत्कर्ष से अर्थात् वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कर्ष से विराजमान है, (अत्र) व्रज में (इन्दिरा) लक्ष्मी (शश्वत्) सर्व काल में (श्रयते) हीन भाव से आश्रय करती है (हे दयित) हे प्यारे (तावकाः) तुम्हारे में (धृतासवः) प्राण धारण करनेवाले हम सब (त्वां) आपको (दिक्षु) दिशाओं में (विचिन्वते) ढूंढती हैं (दृश्यतां) इसलिये एक बार अपनों को देखो ॥ १ ॥

भाषार्थ—आपके जन्म से व्रज का वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कर्ष हुआ है, कारण कि व्रज में लक्ष्मी निरन्तर हीन भाव से रहती है, हे प्यारे ! तुम्हारे हम आप में प्राण धारण करनेवाले आपको दिशाओं में खोजते हैं, इसलिये एक बार देखो ॥ १ ॥

(सुबो०) मङ्गलार्थोऽत्र जयशब्दः। यथा फलं साधयेत्स्तोत्रम्, तथा निर्विघ्नार्थः। अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुञ्ज्यात्। त्वदवतारेण व्रजः सर्वोऽपि कृतार्थः। वयमेव परमकृतार्था एवेति। यथा वयमपि कृतार्था भवामः, तथा यत्नः कर्तव्य इति वक्तुं व्रजस्य तवावतारेण सर्वोत्कर्षो जात इत्याहुः। ते जन्मना व्रजः अधिकं जयतीति। सर्वोत्कर्षेण स्थितिः जयः, अधिकजयो वैकु-

ण्ठादप्युत्कर्षः । न हि वैकुण्ठे भगवानेवंविधां लीलां करोति । यद्यपि मथुरायां जन्म जातम्, तथापि तेन जन्मना मथुरा सर्वोत्कर्षेण स्थिता, किन्तु व्रज एव । ननु भगवज्जन्मनः कर्वोत्कर्षहेतुत्वं न लोके प्रसिद्धम् , अनन्यत्वेनैकत्वात् , अतस्तादृश उत्कर्षहेतुर्वक्तव्यः, यो लोके प्रसिद्ध इति चेत्, तत्राह–श्रयत इन्दिराशश्वदत्र हीति । अत्र व्रज इन्दिरा सर्वदा श्रयते । हीनभावेनाश्रयं कुरुते । वैकुण्ठे तु सैव नियता भार्येति न तस्याः सर्वदा श्रयणं कर्तव्यं भवति । इह तु तादृश्यो वयमनेका इति तस्याः स्वास्थ्याभावात् कदा वा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते । अतो लक्ष्मीस्थित्या लोका उत्कर्षं मन्यन्ते । सा पुनर्लक्ष्मीः गोकुलाश्रया जाता । हि युक्तश्चायमर्थः । पतिव्रता हि सा । यत्र पतिः स्वयमन्याधीनतया तिष्ठति, भक्तेषु कृपां ख्यापयितुम्, तदुक्तमुलूखलप्रकरणे, तत्र तद्भार्या सुतरामेवाश्रयत इति किमाश्चर्यम् । तव जन्मना व्रजस्य सर्वोत्कर्षः सर्वजनीनः । अतस्तव रमणे न कापि न्यूनता, न वा लक्ष्म्या मनसि विषादः, अङ्गीकृतत्वात् । अतः कारणादस्मदर्थमागतेन त्वया दृश्यतामिदं गोकुलमेकदा द्रष्टव्यम् । वाक्यार्थो वा कर्माग्रे वक्ष्यमाणः । तावकास्त्वयि धृतासवः दिक्षु त्वां विचिन्वत इति दृश्यताम् । एतादृशोऽर्थोऽनुचित इति अनुचितप्रदर्शनेन बोधयन्ति । लोका हि ब्रह्मादयः त्वमवतीर्णो व्रजे वर्तस इति निश्चित्य समायान्ति । व्रजस्थाः पुनरस्मदादयः दिक्षु विचिन्वन्ति । इयं महत्यनौचिती । ननु व्रजस्थानां भक्तिर्नास्ति, अन्यथा विरहे म्रियेरन्, अतः अभक्ता न पश्यन्तीति युक्तं इति चेत् तत्राहुः–त्वयि धृतासव इति । त्वदर्थमेव धृता असवः प्राणा यैः । यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति, तदैव त्यक्ष्यन्तीति भावः । अत एव त्वां विचिन्वते, प्राणानाश्वासयितुम् । अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति । अन्यथा व्रजे गच्छेयुः, प्रातस्त्वमेवायास्यसीति अन्वेषणं व्यर्थमेव स्यात् । दिक्षु त्वदीयाः त्वयि सतीति महद्दैन्यम् । अत एकवारं त्वदीयाः पश्येति प्रार्थना । एवमेकया दर्शनं प्रार्थितम् । दयितेति सम्बोधनात् भर्त्रदर्शनेन स्त्रीणां जीवनं न युक्तमिति निरूपितम् । यद्यपि भगवाँश्चेत् पश्येत्, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत् । तथापि दैन्यं दृष्ट्वा आत्मानमपि प्रदर्शयेदिति तथा प्रार्थना ॥ १ ॥

इस श्लोक में जय शब्द मंगल अर्थ में है, मङ्गल शब्द विघ्नविनाशक होता है, गोपियों का भी भगवान् के मिलने में प्रतिबन्ध दूर करके फल साधन करनेवाला स्तोत्र होगा ।

यदि जय शब्द का प्रयोजन मङ्गल नहीं होता तो 'जयति' इस क्रिया पद का पहिले प्रयोग नहीं करते, किन्तु कर्तृवाचक व्रज पद का प्रयोग करके अनन्तर 'जयति' इस क्रिया का प्रयोग करते । 'व्रजः जयति ते जन्मनाधिकं' इस प्रकार ।

आपके अवतार से समस्त व्रज कृतार्थ हुआ है, परन्तु केवल हम सब ही कृतार्थ नहीं हुई हैं, अब जिस प्रकार से हम सब भी कृतार्थ हों, उस प्रकार का यत्न करना चाहिये, इस बात को कहने के लिये गोपियां आपके अवतार से व्रज का सर्वोत्कर्ष हुआ है, इसको कहती हैं कि 'ते जन्मना व्रजः अधिकं जयति' आपके जन्म से व्रज अधिक जय को प्राप्त होता है, जय सर्वोत्कर्ष से स्थिति को कहते हैं । अधिक जय-वैकुण्ठ से भी उत्कर्ष है ।

वैकुण्ठ में भगवान् इस प्रकार की लीला नहीं करते हैं, यद्यपि भगवान् का अवतार मथुरा में हुआ है, तथापि भगवान् के जन्म से मथुरा की सर्वोत्कर्ष से स्थिति नहीं है, सर्वोत्कर्ष से स्थिति तो व्रज की ही है ।

यदि शंका करो कि भगवान् के जन्म को सर्वोत्कर्ष का हेतु लोक में प्रसिद्ध नहीं है, कारण कि भगवान् का प्राकटच अनन्यत्व से एक ही है, अर्थात् भगवान् के समान अन्य कोई नहीं है, एक ही है, इसलिये केवल एक व्रज में ही हुआ है, अतः जिस प्रकार शब्द नित्य है, शब्दत्व होने के कारण, उसी प्रकार आपके जन्म से व्रज सर्वोत्कृष्ट है, भगवान् का जन्म होने से नहीं, क्योंकि यहां असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है, इसलिये भगवान् के जन्म को व्रज के उत्कर्ष में हेतु कह नहीं सकते और न लोकप्रसिद्ध कोई हेतु कहना चाहिये ।

इस शंका का उत्तर देती हुई गोपियां कहती हैं, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि' व्रज में लक्ष्मी सदा हीन भाव से आश्रय करती है, वही लक्ष्मी वैकुण्ठ में भगवान् की नियत भार्या है, और व्रज में तो लक्ष्मीसदृश हम अनेक गोपियां हैं, इसलिये लक्ष्मी को स्वस्थता नहीं रहती है, और लक्ष्मी इसी विचार में रहती है कि जाने किस समय मुझे अवसर प्राप्त हो जाये, उक्त विचार से लक्ष्मी व्रज का निरन्तर सेवन करती है, इसीलिये लक्ष्मी की स्थिति से ही लोक व्रज का उत्कर्ष मानते हैं ।

यह लक्ष्मी गोकुल का आश्रय करके रहती है, इस अर्थ को युक्त हि शब्द बतलाता है ।

लक्ष्मी पतिव्रता है, उलूखल-प्रसङ्ग में कहा है कि भगवान भक्त के अधीन हो जाते हैं, भक्तों में कृपा प्रसिद्ध करने के लिये ।

जहां पर अपना पति स्वयं दूसरों के अधीन होकर रहता है, वहां फिर उसकी भार्या निरन्तर आश्रय करती है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है, आपके प्राकटच से व्रज का सर्वोत्कर्ष श्रेष्ठत्व सर्व लोग जानते हैं, इसलिये आपका हमारे साथ रमण करने में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है, और न लक्ष्मी के ही मन में खेद होगा, कारण कि आपने अवतार लेकर सर्वश्रेष्ठ व्रज का उत्कर्ष करके 'यह व्रज हमारा है' इस प्रकार व्रज का अङ्गीकार किया है, इसलिये हमारे लिये ही पधारे हुए आपको यह श्रीगोकुल एकबार देखना चाहिये ।

अथवा उक्त श्लोक का अन्वय वक्ष्यमाण प्रकार से करना चाहिये, 'तावकास्त्वयि धृतासवः दिक्षु त्वां विचिन्वत इति', अग्रे वक्ष्यमाणः वाक्यार्थो 'दृश्यतां' इति क्रियायाः कर्मेत्यर्थः' तुम्हारे में प्राणधारण करनेवाले आपके भक्त हम दिशाओं में आपको खोजते हैं, इस बात को आप देखो, उक्त अर्थ में 'दृश्यतां' इस क्रिया का 'तावकाः' इत्यादि वाक्यार्थ कर्म हो जाता है, अर्थात् व्रज में आप प्रकट होकर तिरोहित हो गए, और भक्त आपकी दिशाओं में खोज कर रहे हैं, यह बात अनुचित है, इस प्रकार गोपियां अनुचित प्रदर्शन करके बोध कर रही हैं ।

आप व्रज में प्रकट होकर विराजमान हैं, इस बात का निश्चय करके ब्रह्मादि लोक व्रज में आते हैं, और फिर व्रज में रहनेवाले हम लोग आपको दिशाओं में खोजते हैं, यह महा अयोग्य बात है ।

यदि कहो कि व्रज में रहनेवालों में भक्त नहीं है, नहीं तो विरह में मर जाते, किन्तु व्रजस्थ तो सब जीवित हैं, अतः व्रज में रहनेवालों में भक्ति नहीं है, भक्तिरहित मेरा दर्शन नहीं करते हैं, इसलिये मेरा दर्शन तुमको नहीं होता है, यह बात युक्त ही है।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं, 'त्वयि धृतासवः' हम आपके लिये ही प्राण धारण कर रही हैं, जिस समय आपके उपयोग में नहीं आयेंगे, इस बात को हम जान जायेंगी, तब उसी समय निरुपयोगी प्राणों का त्याग कर देंगी। इस प्रकार का गोपियों का भाव है। प्राणों को आश्वासन देने के लिये ही आपका खोज कर रही हैं, अब थोड़ा भी बिलम्ब होगा, तो हमारे प्राण निकल जायेंगे।

यदि थोड़े बिलम्ब होने से प्राण निकलने की तैय्यारी नहीं होती तो हम व्रज में ही लौट कर चली जातीं, प्रातःकाल आप स्वयं ही व्रज में आ जाओगे, फिर हम आपका रात्रि के समय व्यर्थ ही क्यों खोज करतीं, अतः थोड़ा विलम्ब होने पर प्राण निकलनेवाले हैं, इसलिये प्राणधारण करने के लिये ही आपको रात्रि में ढूंढ रही हैं। इसलिए हमारा आपको इस समय ढूंढना सार्थक है।

अथवा इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। 'दिक्षु त्वदीयाः त्वयि सति' इस अन्वय में विद्यमान-'सति' सप्तमी जाननी चाहिए, इस पक्ष में अर्थ इस प्रकार है कि 'आपके व्रज में विराजने पर हम तुम्हारे तुमको ढूंढते हैं' इस अर्थ में गोपियों ने महादैन्य प्रकट किया है, अर्थात हम सब अतिदीन हैं, इसलिए एक बार अपने निज भक्तों को देखो। इस प्रकार हमारी प्रार्थना है।

इस प्रकार एक गोपी ने भगवान् के दर्शन की प्रार्थना की है, 'हे दयित' हे प्यारे! इस सम्बोधन से गोपी इस बात का निरूपण करती है कि पति के विना देखे स्त्रियों का जीवन योग्य नहीं है।

यद्यपि भगवान् गोपियों को देखें, तो देखने मात्र से गोपियों को कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा, तथापि गोपियों की दीनता को देखकर अपने स्वरूप का दर्शन कराओ। इस प्रकार भगवान् के दर्शन के लिए गोपियों ने प्रार्थना की है।

(सुबो०) एवं स्वदैन्यानौचित्यादिनिरूपणेन तस्या राजसत्वं निरूपितम्। तामसी तु वधाभावं प्रार्थयितुमदर्शनस्य वधसाधकत्वमाह— शरदुदाशय इति।

इस प्रकार प्रथम श्लोक में गोपी ने अपनी दीनता, तथा भगवान् के अदर्शन को अनुचित आदिका निरूपण करके सात्त्विक राजस भाव निरूपण किया है, अब सात्त्विक तामसी गोपी वधनिषेध की प्रार्थना करने के लिए, भगवान् का अदर्शन वधसाधक है इस बात को आगे श्लोक में कहती हैं।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥

पदपदार्थ—(हे सुरतनाथ) हे सम्भोगनाथ (शरदुदाशये) शरदृऋतु के सरोवर में (साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा) सम्यक् प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर की लक्ष्मी को हरण करनेवाली (दृशा) दृष्टि से (हे वरद) हे वर देनेवाले। (ते) आपकी (शुल्कदासिकाः) मोल की दासियों को अथवा (अशुल्कदासिकाः) विना मोल की-धर्मदासियों को

(निघ्नतः) मारनेवाले आपको (इह) इसमें (किं) क्या (वधः) वध दोष (न) नहीं है, अर्थात् है ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे सुरतनाथ! शरदृऋतु समय के सरोवर में सुन्दर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर-भीतर की लक्ष्मी को हरण करनेवाली दृष्टि से हे वर देनेवाले! आप अपनी मोल की दासियों का अथवा विना मोल की–धर्मदासियों का वध करते हो, इसमें क्या आपको वधदोष नहीं होता, अर्थात् आपकी दृष्टि से वध होता है ॥ २ ॥

(सुबो०) शरत्कालीनो योऽयमुदाशयः पुष्करिणी, तत्र साधु सम्यक् प्रकारेण जातं यत्सरसिजं कमलं, तदन्तर्वर्तिनी या श्रीः तामपि मुष्णातीति तादृग्रूपया दृशा दृष्ट्या, हे वरद, यो निहन्ति तस्य किं वधो न, अपि तु वधदोषो भवत्येव। येनैव साधनेन परस्य प्राणा गच्छन्ति, तत्सम्पादनसाधको घातकः दोषभाग्भवति। अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुका निरूपिता। 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छंदि'ति वाक्यात्। तथास्मानपि प्रायेण क्रूरदृष्ट्या पश्यसि। अन्यथा कथं प्राणबाधा स्यात्। रूपं त्वानन्दमयमिति तद्दृष्टौ तदेव जीवयेत्। अतस्तदभावात् केवलं घातयत्येव। किञ्च, न वयं वधार्हाः, यतो दासिकाः, कुत्सिता दास्यः। न हि स्त्रियः अप्रयोजिकाश्च हन्यन्ते। किञ्च, वयं शुल्कदासिकाः, त्वं च सुरतनाथः। सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सम्बोधनानि यथाधिकारं नियतानि। यथा धर्ममार्गे, हे धर्मपालक, हे ब्रह्मण्य, हे यज्ञेश्वरेत्यादीनि। अर्थे, हे लक्ष्मीपते, सर्वसिद्धिदेत्यादीनि। तथा मोक्षे, हे मुकुन्द, हे योगेश्वर, हे ज्ञाननिधे इत्यादीनि धर्मार्थमोक्षार्थिभिरुच्यन्ते। एवमस्माभिरपि सुरतनाथेत्युच्यते। सुरतं सम्भोगः जगति यावानस्ति तस्य भवान् नाथः। त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते। अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रवृत्त्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिका दत्ताः। शुल्कं मार्गनिर्वाहकद्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम्। सुरतं चेत् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत्, तदा लोके रसो न भविष्यतीत्यस्मद्द्वारा त्वत्तः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयमागताः। तत् कार्यं दूरत एव स्थितम्, प्रत्युतास्मान्मारयसि। एवं सति सर्वमेव कामशास्त्रं व्यर्थं स्यात्। तृतीयः पुरुषार्थश्च न भवेत्। अतः सर्वथा यदर्थं वयं प्रेषितास्तत्कर्तव्यम्। अथवा। यदा कदाचित्कर्तव्यम्, इदानीं जीवयितव्या रूपप्राकट्येन। दृशो मारकत्वमुपपादयन्ति श्रीमुषेति। यस्तु चोरो भवति, स घातकोपि भवति। यथा यथा चौर्ये नैपुण्यम्, तथा तथा घातकत्वम्। तदर्थमाहुः उदरश्रीमुषेति। तत्रापि ये दुर्गंजाताः, ते अतिनिपुणाः। तत्रापि जलदुर्गंजाः। तत्सरसिजम्। तत्रापि ते दुर्गं एव तिष्ठन्ति। तत्रापि ते साधु-

जाताः प्रभवः । तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रवरहिते । एवं देशकालस्वरूपादिभिः अशक्यचौर्यादपि पुरुषात् तदुदरवर्ति–सर्वस्वनेता अंतःस्थितप्राणान् साधारणगोपिकादीनां नेष्यतीति किमाश्चर्यम् । चौर्यं हि क्रियते बलिष्ठेनापकीर्त्यभावाय । तदत्र तु न भविष्यतीत्युक्तं किं वधः न इति । अथवा । अदृशा अदर्शनेन दर्शनमदत्त्वा निघ्नतः किं वधो न । सुरतार्थमागताः, तद्गतं दूरे, अन्तरा मरणमुपस्थितम् । तथा सति सुरतस्याप्रकटितत्वात् नाथत्वमपि न स्यात् ।

नहि योगी अश्वनिर्माणसमर्थोऽप्यश्वपतिरुच्यते । प्रकटयति चेत्, तदा तथा । किञ्च, अस्मद्वधे किमाश्चर्यम् । तवादर्शने लक्ष्मीरपि न तिष्ठेत् । तदाहुः—श्रीमुषेति । उदरस्थिता श्रीश्चेद् बहिरानीता, तदैव म्रियते, अपुष्टत्वात् आमगर्भवत् । यद्यपि तस्याः जीवने काल-द्रव्य-देश-वस्तूनि बहून्येव सन्ति, तथापि त्वददर्शने न जीवति, तथा वयमपि । किञ्च । त्वं सर्वेषां वरान् प्रयच्छसि, अस्माँस्तु मारयिष्यसीति महदाश्चर्यम् । वरदाता हि प्रत्यक्षो भवति । अथवा । ते वयममूल्यदासिकाः, धर्मदासिकाः । अतो न हन्तव्याः । एवमनेकविधक्रौर्यभावनया काश्चिद्भगवन्तमुपालभन्ते ।

शरद् कालका जो यह उदाशय—कमलवाला सरोवर, उसमें सम्यक् प्रकार से उत्पन्न जो सरसिज—कमल, उस कमल के भीतर रहने वाली जो श्री उसको भी चुराने वाली है, इस प्रकार रूपवाली दृष्टि से हे वरदान के देनेवाले ? जो मारता है, उसका क्या वध नहीं है, यहां व्याख्यान में वध पद भी हननार्थक है, इसलिये 'निघ्नतो वधो न' इस प्रकार कथन सम्भव नहीं होता है, अतः वध पद का अर्थान्तर कहते हैं, 'अपितु वधदोषो भवत्येव' वध करते हैं जिस प्रयोजन के लिये, इस प्रकार कृदन्त मात्र को बाहुलक पक्षसे 'पचाद्यच्' इस सूत्र से अच् प्रत्यय करनेपर वधफल, यह अर्थ हुआ, अर्थात् वध दोषफल होता ही है ।

जिस साधन से दूसरे के प्राण जाते हैं, उस साधन का साधन करनेवाला घातक दोषका भागी होता है, भगवान् की दृष्टि गोपियों के मारने में साधन है, इसलिये इस प्रकार के साधन सम्पादन करने वाला घातक भगवान् वध-दोष का भागी है ।

उक्त कथन से भगवान् की दृष्टि सबके मारनेवाली बतलाई है, इसमें भाग० स्कं० १-१५-१५ प्रमाण देते हैं 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छैत्' भगवान् दृष्टि से आयु, मन तथा ओज का हरण करते हैं ।

यद्यपि भगवान् पुरुषोत्तम की दृष्टि आनन्दमयी है, परमानंद का ही दान करती है, मारती नहीं है, तथापि विरह में स्मरण करने से परम क्लेश उत्पन्न करती है, इसलिये आनन्दमयी भी दृष्टि में विरह के कारण इस गोपी को घातुकत्व का भान हो रहा है, भगवान् के काल आदि रूप में जो सर्व को मारने वाली दृष्टि है, वह यहां आनन्दमय में निरूपण की है, यह भाव है ।

इस प्रकार आप हम सब को भी प्रायः करके क्रूर दृष्टि से देख रहे हो, नहीं तो हमारे प्राणों को बाधा कैसे हो सकती है, आपका स्वरूप तो आनन्दमय हैं, इसलिये आनन्दमयी दृष्टि से देखने पर दृष्टि भी जीवनदान करती हैं, इस समय आप आनन्दमयी दृष्टि से नहीं देखते हो क्रूर मारनेवाली दृष्टि से देख रहे हो, इसलिये आप दृष्टि के बल घात ही कर रहे हो, अर्थात् दृष्टि द्वारा हनन दोष के हेतु हो ।

हमारा वध अनुचित भी है, इस बात को गोपियां कहती हैं, कि हम वधयोग्य नहीं हैं, कारण कि हम कुत्सित—अधमदासियां हैं, स्त्रियां मारी नहीं जाती हैं, उसमें भी बिना प्रयोजन के मारी नहीं जाती हैं ।

और हुम तो आपकी मोल की दासी हैं, और आप सुरतनाथ हो, सुरतनाथ मोल ली गई दासियोंका वध करें, यह बात सर्वथा अनुचित है ।

सर्व पुरुषार्थ साधक आपके सम्बोधन यथाधिकार नियत हैं, जिस प्रकार धर्ममार्ग में हे धर्मपालक, हे धर्म के पालन करनेवाले, 'हे ब्रह्मण्य' 'हे यज्ञेश्वर' इत्यादि । अर्थ में 'हे लक्ष्मीपते' 'हे सर्वसिद्धिद' इत्यादि । इसी प्रकार मोक्ष में 'हे मुकुन्द' 'हे योगेश्वर' 'हे ज्ञाननिधे' इत्यादि 'धर्म-अर्थ-मोक्ष की इच्छा करने वाले उक्त संबोधनों से आपको पुकारते हैं, उसी प्रकार कामाभिलाषवाली हम सब भी आपको 'सुरतनाथ' कहती हैं, सुरत—अर्थात् सम्भोग जगत के भक्तों में जितना सम्यक् भोग है, उसके आप नाथ हो, आपकी आज्ञा बिना सुरत लौकिक जगत् में प्रवर्तित नहीं होता है ।

अतः आप ही सुरतनाथ हो, 'रत' शब्द लौकिक भोग शब्द वाच्य है, भोग सृष्टि के आरम्भ काल से प्रवर्तित है, इसमें भगवान् की आज्ञा की अपेक्षा नहीं है, कारण कि सृष्टि की तरह लौकिक भोग भी हुआ करता है, और सुष्ठु–अलौकिक शोभन रूप रत-रमण है, वह सम्यक् भोग शब्द-वाच्य है, अर्थात् इसको सम्यक् भोग कहते हैं, यह सुरत—अलौकिक शोभन रूप रत-रमण आपकी आज्ञा—इच्छा से हम में प्रवर्तित होता है, कारण कि लौकिक जगत जाता है,—नष्ट होता ही है, स्थिर नहीं है, इसलिये जगत् में अत्यन्त अलौकिक स्वरूपानन्दरूप सुरत प्रकट होना योग्य नहीं है, इस प्रकार की सुरत के तो आप ही नाथ हो, प्रवर्तक तथा रक्षक हो ।

अब इस प्रकार का अलौकिकरस यदि आप में ही निरुद्ध रहे तो अलौकिक भी भक्त शून्य हृदयवाले हो जायें अतः आपकी इच्छा जान कर और आपकी प्रार्थना करके ब्रह्मा, अथवा कामने (भगवान् में रिरंसा रूप जो काम है उसने) भगवदीय लोक में सुरत-प्रवृत्ति के लिये हम सब गोपियां शुल्करूप दासियां प्रकट की हैं ।

काम-पक्ष में बुलाकर भगवान् के लिये समर्पण की हैं, जो प्रवर्तक होता है वह प्रतिबंध दूर करके ही प्रवर्तित करता है, शुल्क–मार्गनिर्वाहक द्रव्य प्रतिबन्ध-निवर्तक होता है, अतः यहां प्रतिबन्ध की निवृत्ति भी हो चुकी है, इसीसे आगे चौथे श्लोक में 'विखनसार्थित' आपकी ब्रह्मा ने प्रार्थना की है, यह कहेंगे ।

काम भगवदीय है, श्रुति में कहा है—मन पूर्वरूप है, और वाणी उत्तररूप है, पहिले सब बात मन में आती है, फिर वाणी द्वारा निकलती है, भगवान् ने प्रथम 'मनश्चक्रे' मन उत्पन्न किया, पश्चात् 'जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्' 'ता दृष्ट्वान्तिकम्' इत्यादि से भगवान् ने मन के अनन्तर अलौकिक भाव-प्रवर्तक अपनी प्रियाओं में वाणी रूप उत्पन्न किया, इसी आशय से सुबोधिनी में 'त्वदाज्ञा' इसमें आज्ञापद कहा है ।

‘मैवं विर्भोर्हंति भवान्’ इत्यादि गोपियों के वचन भगवद्भावात्मक होने से आज्ञारूप हैं, इस प्रकार आशय है। उक्त इन वचनों से ही रस की प्रवृत्ति में जो प्रतिबन्ध थे, उनकी भी निवृत्ति हो गई है, इसलिये ब्रह्मा अथवा कामने सुरत-प्रवृत्ति के लिये शुल्करूप हम को दी हैं।

यहां यह भाव है कि ‘ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामाः’ इस श्लोक में ब्रह्मा आदि देवता भगवद्भाव की इच्छा करते हुए, साक्षात् कामरूप भगवद्भाव को प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु भगवद्भाव सूचन करने वाले लक्ष्मी जी के कटाक्ष, जो निरन्तर प्रिय भगवान् के साथ सम्बन्ध से भगवद्भावात्मक हो गये हैं, उन कटाक्षों का सम्बन्ध हो जाने पर, इनके अनुभाव से कदाचित् भगवद्भाव भी प्राप्त हो जायगा, इस आशय से भगवद्भाव की इच्छा करने वाले ब्रह्मादिदेवता तप करते हैं। इस प्रकार निरूपण किया है।

अब यहां चालू विषय में तो प्रभु स्वयं प्रकट हुए हैं, इसलिये रस-मार्ग प्रकट करने के लिये द्वारभूत हम सब गोपियों ब्रह्मा ने प्रकट की हैं।

उक्त श्लोक में सुरत शब्द का विग्रह इस प्रकार है, सुष्ठु—सम्यक् प्रकार से ‘भगवता समं’ भगवान् के साथ ‘रतं’ रमणं ‘येन’ जिस भगवद्भाव करके, इसका अर्थ भगवद्भाव हुआ, लौकिक संभोग नहीं है।

यदि सुरत शब्द का अर्थ लौकिक संभोग किया जाय तो इस प्रकार का प्राकृत संभोग जगत् में पामर जीव से लेकर मनुष्य पर्यन्त वर्तमान है, फिर सुबोधिनी में ‘त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण’ आपकी आज्ञा के बिना जगत् में सुरत प्रवृत्त नहीं होती है, इत्यादि से जो नाथत्व का विवरण किया है, वह घट नहीं सकता है।

इस मार्ग के प्रकट होने से ब्रह्मा को कोई भी भाव सिद्ध नहीं होता है, अतः उक्त अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं कि (कामेन वा) अर्थात् भगवदीय भावरूप काम ने आपको समर्पण की हैं।

स्वामिनीजी का दर्शन होने पर भगवान् का भाव उद्रिक्त—बढ़ता हुआ काम कार्य करता है, अतः काम ने ही अपने लिये हम को प्रकट की है। हमारे द्वारा आप से रस लोक में विस्तृत हो जायें, इस कार्य के लिये हम सब आई हैं; यह कार्य तो दूर रहा, और उलटा हमको आप दृष्टि द्वारा मार रहे हो, यदि हम सब मर जायेंगी तो फिर सभी कामशास्त्र व्यर्थ हो जायेगा। भगवान् की लीला का प्रतिपादन करने से ही कामशास्त्र सफल कहा जाता है, भगवान् की लीला यदि प्रकट नहीं हो तो लौकिक काम का प्रतिपादन करने से शास्त्र व्यर्थ हो जाये। कारण कि कामशास्त्र लौकिकपर हो तो लौकिक प्रतिपादन करने वाला काम पात का हेतु ही हो, अर्थात् मनुष्यों का अधः पात करे, पुरुषार्थ साधन नहीं करे, तो फिर धर्म अर्थ मोक्ष, तीन ही पुरुषार्थ हों, तृतीय पुरुषार्थ—काम नहीं हो, अतः सर्वथा जिस अलौकिक काम-प्रवृत्ति के लिये हम सब भेजी गई हैं, यह कार्य आपको करना चाहिये।

अथवा सुरत तो जब कभी आपकी इच्छा हो तब सिद्ध करना, इस समय तो अपना स्वरूप प्रकट करके हम सब को जिलाना चाहिये। अब गोपियां भगवान् की दृष्टि मारने वाली है, इस बात का प्रतिपादन करती है, ‘श्रीमुषेति’।

जो चोर होता है, वह मारने वाला भी होता है, जैसे जैसे चोरी करने में चतुराई होती है, वैसे वैसे मारने में भी चतुराई बढ़ती है, इस अर्थ को गोपियां कहती हैं ‘उदरश्रीमुषेति’ दुर्ग-किले में जो उत्पन्न होते हैं वे अतिनिपुण हैं, उसमें भी जलके किले में उत्पन्न हुए हों वे अति निपुण हैं, इस प्रकार का सरसिज–कमल है, कमल जल के किले में रहता है, उसमें भी

जो कमल सुन्दर प्रकार से उत्पन्न हुआ है, और उसमें भी प्रकाशयुक्त काल-शीतादि उपद्रव रहित शरत् ऋतु में उत्पन्न होता है, इस प्रकार देश काल स्वरूप आदि से उत्पन्न जिसकी चोरी करना सामर्थ्य से वाहर है, उस प्रकार से पुरुष—कमल के उदरवर्ति सर्वस्व का हरण करने वाले चोर भगवान् की दृष्टि साधारण गोपियों के अन्तःस्थित प्राणों का हरण कर ले जाये तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है। अर्थात् जिस प्रकार किले के भीतर धरी हुई वस्तु की चोरी हो नहीं सकती, उसी प्रकार जल के किले में रहने वाले कमल की चोरी हो नहीं सकती, स्थल से भी जलदुर्ग कठिन होता है।

कमल साधुजात है, सामर्थ्य युक्त है, इसका स्वरूप इस प्रकारका है, शक्तिमान् पुरुषकी कोई चोरी ही कर सकता है, समय भी शरद् ऋतु का है, प्रकाश में चोरी करना असंभव होता है, इस प्रकार देश-काल स्वरूपादि से कमल की चोरी होना अशक्य है, फिर भी भगवान् का चोर दृष्टि कमल के भीतर रहनेवाली सर्वस्व वस्तु की चोरी करती है। फिर गोपियों के प्राण हरण करे तो इसमें क्या आश्चर्य है।

बलिष्ठ राजा आदि भी चोरी करते हैं, किसी के यहां उनकी अपेक्षित वस्तु होती है, और पैसा देने पर भी जब वह उस वस्तु को नहीं देता है, तब बलात्कार से लेने से, अथवा उसको मरवा कर लेने से तो उनकी बुराई होती है, अतः हमारी अपकीर्ति न हो, इस लिये चोरी से ही उस वस्तु को ले लेते हैं। किन्तु यहां तो अपकीर्त्ति का अभावरूप विचारित नहीं होगा, अर्थात् चुराने में अपकीर्ति होगी ही।

अथवा-अपयश तो नहीं होगा, किन्तु वधदोष तो प्राप्त होता ही है, अथवा श्लोक के मूल में ‘अदृशा’ इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये। अदृशा—अदर्शन से, दर्शन दिये बिना आप हम सब को मार रहे हो, यह क्या वध नहीं है। कारण के अभाव में कार्यका अभाव होता है, मृत्तिका आदि के अभाव में घट कार्य का अभाव होता है, इस न्याय से भगवान् के अदर्शन को अपना वध साधन करने वाला गोपियों ने कहा है।

गोपियां कहती हैं कि हम आपके पास में सुरत-रमण के लिये आई हैं, वह सुरत तो दूर रहा, उलटा मध्य में मरण उपस्थित हो गया है, हम सब मर जायेंगी तो सुरत प्रकटित नहीं होगी, तब आप सुरतनाथ भी नहीं कहलावेंगे।

घोड़ा उत्पन्न करने के सामर्थ्य होने पर भी जब तक योगी घोड़ा उत्पन्न नहीं करता है, तब तक उसको अश्वपति नहीं कहते हैं, जिस समय घोड़ा उत्पन्न करता है, उसी समय योगी को अश्वपति कहते हैं।

इसी प्रकार जब तक आप सुरत प्रकट नहीं करोगे, तब तक सुरतनाथ यह नाम नहीं कह सकते हैं।

अब गोपियां कहती हैं कि आपका अदर्शन हमारा वध करे इसमें क्या आश्चर्य की बात है, आपके दर्शन बिना लक्ष्मी भी नहीं रह सकती है इस बात को गोपियां कहती हैं ‘श्रीमुषेति’

इस पक्ष में ‘श्रीमुषा’ इसमें मोष-नाम प्राणहरण है।

कमल के उदर में स्थित लक्ष्मी जिस समय बाहर लाई जाती है तो फिर उसी समय वह मर जाती है, कारण कि लक्ष्मीका पोषण भगवान् की दृष्टि से होता है, जिस प्रकार आम–कच्चा गर्भ पुष्ट न होने से मर जाता है, उसी प्रकार पुष्ट न होने से लक्ष्मी मर जाती है।

यद्यपि कमलस्थ लक्ष्मी के जीवन में काल-द्रव्य-देश आदि बहुत सी वस्तुयें हैं, तथापि आपके देखे बिना लक्ष्मी जिन्दा नहीं रह सकती हैं, उसी प्रकार हम भी आपके दर्शन बिना जी नहीं सकती हैं।

आप समस्त प्राणियों को वरदान देते हो, और हमको तो मारते हो, यह कितना बड़ा आश्चर्य है। वरदाता तो प्रत्यक्ष दर्शन देता है, छिपता नहीं है।

अब गोपियां शुल्क-पद में नञ् के प्रश्लेष से पक्षान्तर कहती हैं, अथवा 'ते वयममुल्यदासिकाः' आपकी हम बिना मोलकी दासी हैं—

अर्थात् धर्मदासी हैं, मारने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अनेक प्रकारकी क्रूर भावनाओं से कितनी ही गोपियां भगवान् को उलाहना देती हैं।

(सुबो० का०)

अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गतः ।
तदा पूर्णो नैव भवेदिति वाग्निर्गमस्तथा ॥ १ ॥ २ ॥

भीतर स्थित रस पुष्ट हुआ, यदि बाहर निकले नहीं तो रस पूर्ण नहीं हो, अर्थात् गान रूप से वाणीका निर्गलन नहीं हो तो बाहर के अंश में पूर्ण रस नहीं हो, अतः गान रूपसे वाणी का निर्गमन है ॥ १ ॥ २ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः कोमलाः बहुधा त्वया रक्षिताः, इदानीमपि पालयेत्याहुः विषजलाप्ययादिति ।

फिर अन्य गोपियां कोमल सात्त्विक स्वभाव वाली 'आपने अनेक बार हमारी रक्षा की है, इस समय भी हमारी रक्षा करो' कहती हैं।

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

पद पदार्थ—(हे ऋषभ) हे श्रेष्ठ (विषजलाप्ययात्) विषैले जलद्वारा मरने से (व्यालराक्षसात्) व्याल—कालिय आदि सर्प से, राक्षस-तृणावर्त आदि से (वर्षमारुतात्) वर्षा और वायु से (वैद्युतानलात्) विजुली और अग्नि से (वृषमयात्मजात्) वृष-बैल मय का पुत्र व्योमासुर से (विश्वतः) सर्व प्रकार के (भयात्) भय से (ते) आपने (वयं) हम सब की (मुहुः) वार वार (रक्षिताः) रक्षा की है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे ऋषभ—श्रेष्ठ कालियनाग के विषयुक्त यमुना जलपान करने से हुई मृत्यु से, कालिय, सुदर्शन आदि सर्पों से, तृणावर्त आदि राक्षसों से, इन्द्रकृत वर्षा-वायु से, बिजुली तथा दवाग्निसे, मय का पुत्र वृष—व्योमासुर से, बहुत क्या कहें सर्वप्रकार के भय से आपने हमारी बार बार रक्षा की है, इस समय भी हमारी रक्षा करो ॥३॥

(सुबो०) विषजलं कालियह्रदजलम्, तत्पीत्वा सर्वं एव बालकाः गावश्च मृताः, ते पुनर्जीविताः। व्यालाः सर्पाः कालियसुदर्शनादयः, राक्षसाः तृणावर्तादयः, तेषामेकवद्भावः। तस्मादपि रक्षिताः। वर्षमारुतादिन्द्रकृतात् । तत्रैव वैद्युतानि अनलो दवाग्निश्च, तयोरप्येकवद्भावः। वृषो योऽयं मयात्मजः व्योमासुरः, तस्मादपि रक्षिताः। न तासां भूतभविष्यद्विषयकपदार्थज्ञाननिर्बन्धोऽस्ति, सर्वज्ञत्वात्। किम्बहुना विश्वत एव भयात्। पालने हेतुः ऋषभेति। भर्ता हि पालयत्येव। अतः सर्वदा पालक इति इदानीमपि पालयेत्यर्थः। ते च मारका बाह्याः, इदानीन्तनस्त्वान्तर इति सर्वथा पालनीयाः ॥ ३ ॥

विषजल—कालिय नाग के विषयुक्त श्रीयमुनाजी के ह्रद का जल, उस जल का पान करके सभी बालक तथा गायें मर गई थीं, इनको फिर आपने जीवित की।

व्याल—सर्प कालिय सुदर्शन तथा इनके परिकर के सर्प आदि, राक्षस—तृणावर्त आदि, यहां व्याल राक्षस का एकवद्भाव हो गया है, अतः एकवचन है इनसे भी आपने हमारी रक्षा की है।

इन्द्रकृत—इन्द्र द्वारा की गई वर्षा तथा वायु से और उसमें बिजुली और अनल-दवाग्नि से, यहां भी एकवद्भाव होने से एकवचन है।

वृष—जो मय का पुत्र व्योमासुर है, उससे भी आपने हमारी रक्षा की है।

गोपियों को भूत भविष्य काल के पदार्थों का ज्ञान करने का आग्रह नहीं है, कारण कि गोपियां सर्वज्ञ हैं।

बहुत कहने से क्या, सभी प्रकार के भयों से आपने हमारी रक्षा की है.

गोपियां रक्षा करने का कारण कहती हैं, (हे ऋषभेति) जो भर्ता होता है वह तो पालन करता ही है। अतः आप सर्वकाल में हमारा पालन करने वाले हो, इसलिये इस समय भी पालन करो। यह अर्थ है, पूर्वोक्त विष. सर्प, राक्षसादि मारणवाले बाहर के थे किन्तु इस समय हमारे मारने वाला पदार्थ भीतर में है, ऋषभ तो भीतर बाहर पालन करनेवाला होता है, इस लिये सर्वथा हमारा पालन करना चाहिये ॥ ३ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः भगवतो महानुभावत्वं ज्ञात्वा तस्य स्वरूपं कीर्तयन्ति। ततश्च ज्ञानिभ्यो यथा मोक्षं प्रयच्छति, तथाऽस्मभ्यमपि अस्मदुचितं मोक्षं दास्यतीति, तं स्तुवन्ति न खल्विति।

अन्य फिर कितनी ही गोपियां निर्गुण भाव वाली भगवान् को महान् अनुभाव को जान कर इनके स्वरूप का कीर्तन करती हैं। इससे जिस प्रकार ज्ञानियों के लिये भगवान् मोक्ष देता है, उसी प्रकार हमारे लिये भी हमारे उचित मोक्ष देंगे, इस कारण से भगवान् की गोपियां स्तुति करती हैं।

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्त्वतां कुले ॥४॥

पदपदार्थ—(हे सखे) हे मित्र (भवान्) आप (खलु) निश्चय (गोपिकानन्दन) श्री यशोदापुत्र (न) नहीं (अखिलदेहिनां) सर्व देहधारियों के (अन्तरात्मदृक्) अन्तःकरण के द्रष्टा हो (विखनसा) ब्रह्माने (विश्वगुप्तये) विश्व की रक्षा करने के लिये (अर्थितः) प्रार्थना की (सात्त्वतां) यादवों के (कुले) कुलमें (उदेयिवान्) प्रकट हुए ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे सखे आप निश्चय श्री यशोदा के पुत्र नहीं हो, किन्तु सर्व देहधारियों के अन्तःकरण के द्रष्टा हो, विश्वकी रक्षा करने के लिये ब्रह्माने प्रार्थना की, तब यादवकुल में प्रकट हुए हो ॥ ४ ॥

(सुबो०) भगवतो नन्दसूनुत्वे सर्वे उपालम्भा युक्ता भवन्ति। तदेव नास्ति इति सर्वमयुक्तमुपालम्भनम्। खल्विति निश्चये। नात्र तिरोहित-

मिव । गोपिकायाः यशोदाया नन्दनः पुत्र इति न । तथा सति यथा तया स्वाधीनः कृतः, ज्ञातो वा तथा गोपिकानामपि भवेत् । गोकुलस्वामिपुत्रत्वात् । तुल्यतायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः । किञ्च, न केवलं भवान् वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तमः, किन्तु अखिलदेहिनां सर्वेषामेवास्मदादीनामन्तरात्मानं अन्तःकरणं पश्यतीति । यद्यस्मद्धृदये तादृशं तापं पश्येत् , तदा प्रसन्न एव भवेत् । अतो नास्मिन्वक्तव्यं किञ्चित् । किञ्च, आगतश्चास्मदादीनां परिपालनार्थमेव यदि जानीयात् एता नश्यन्तीति, तदा परिपालयेत् । रक्षार्थं च प्रार्थित एव, नतु स्वेच्छया समागतः, तदाह—विखनसार्थित इति । विखना ब्रह्मा, विशेषेण खनतीति सर्वथा वेदार्थविचारकः । अत एव वैखानसं मतं ब्रह्मणा कृतं भगवद्भजनप्रतिपादकम् , तेनैव मार्गेण पूजां भगवान् गृह्णातीति वेङ्कटाद्रौ तथैव पूजा । अतः सर्वेषां पूजामपि ग्रहीतुं ब्रह्मणा प्रार्थितो विश्वगुप्तये इति मुख्यं प्रयोजनम् । एवमन्तरात्मत्वात् सर्वेषामेव जीवानां भवान् सखा । तादृशः लोके सख्यं प्रकटयितुं सात्वतां यादवानां वैष्णवानां वा कुले उदेयिवान् प्रादुर्भूतः । अत एतदर्थमेवागतः । पूर्वमपि सखा यथेच्छमेव प्रेरयसि, आगतस्य पुनर्विशेषो वक्तव्यः । स चात्मनिवेदनरूपो भवति । अतो वयं किं विज्ञापयामः । यथोचितमेव कर्तव्यमिति भावः ॥ ४ ॥

भगवान् का नन्दगृह में प्रादुर्भाव पहिले वर्णन कर आये हैं, यहां नंदसूनु नहीं कहा, इसका तात्पर्य कहते हैं ।

भगवान् नन्दसूनु होते तो हमारे दिये सब उलाहने युक्त होते, किन्तु भगवान् तो नन्दसूनु ही नहीं है, इसलिये गोपियों के दिये सब उलाहने अयुक्त-योग्य नहीं है ।

जिस प्रकार मथुरा में वसुदेव द्वारा देवकी जी में आकरके प्रादुर्भाव हुआ है, उस प्रकार नन्द द्वारा यशोदा में भगवान् का आगमन नहीं हुआ है, किन्तु यशोदा जी के गर्भ में माया की ही स्थिति रही, भगवान् तो तब तक भक्तों के हृदय में स्थित रहे, फिर प्राकट्य समय मायावृत प्रकट हुए ।

लीला के लिये नंद-यशोदा दोनों में पुत्र-बुद्धि स्थापन कर दी, इसलिये पृथक्-पृथक् यशोदा तथा नंद पुत्र कहलाते हैं, वसुदेव की तरह नन्द से यशोदा जी में भगवान् नहीं पधारे, इसलिये नन्दसूनुत्व विशिष्ट यशोदासूनु भगवान् नहीं हैं ।

गोपिकानन्दन पद का अर्थ नन्दसूनुत्व विशिष्ट गोपिकानन्दनत्व है, लोक में पिता माता दोनों का सम्बन्ध पुत्र में देखा गया है, किन्तु यहां लोककी तरह गोपिकानन्दनत्व सम्बन्ध नहीं है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि भगवान् नन्दसूनु होते हुए यशोदानन्दन नहीं हैं ।

खलु—यह पद निश्चय अर्थ में हैं, इसमें कोई अर्थ तिरोहित गुप्त नहीं है स्पष्ट है ।

योजनाकार लिखते हैं कि यशोदानन्दन का निषेध तो लौकिक भाव से किया पुत्रभाव पर है, 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः' इस श्लोक में जिस प्रकार देवकीनन्दन का निषेध है, उसी तरह यहां भी है, इसी से 'न माता न पिता तस्य' भगवान् के न तो माता है

और न पिता है, यह वाक्य संघटित होता है, अतः पुरुषोत्तम का यद्यपि जन्म नहीं होता है, तथापि पुत्रभाव से प्रादुर्भाव होने से यशोदानन्दनत्व है ।

अथवा शृङ्गाररस भाव वाली व्रजसुन्दरियों ने कटाक्ष से कहा है कि आप यशोदापुत्र नहीं हो, यदि लोकरीति से सम्बन्ध होता तो यशोदाजी के लिये भक्तवश्यता बोधन करने के लिये जिस प्रकार यशोदा जी ने अपने अधीन-वश में किया है, अथवा यशोदाजी ने जिस प्रकार आपको जाना है, उसी प्रकार गोपियों के भी वश में हो जाते, अथवा गोपियां आपको जान लेतीं, कारण कि आप गोकुलस्वामी के पुत्र हो ।

यदि आप शंका करो कि यह कौन सा नियम है कि यशोदानन्दन होने पर अधीनता, और गोकुलस्वामी का पुत्र होने पर अधीनता नहीं होती है, कारण कि अधीनता तो स्नेह से देखी गयी है, उक्त आपका कथन संघटित कैसे हो सकता है ।

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं 'तुल्यतायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः' परस्पर दोनों की तुल्यता होनेपर ही भगवान् को वश करने वाली साधन रूप विद्या और योनिसम्बन्ध होता है, तुल्यता नहीं होती है तो विद्या तथा योनिसम्बन्ध वशीकरण में हेतु नहीं होता है, इसीसे भागवत में भी 'ययोरात्मसमं वित्तम्' इत्यादि से कहा है कि जहाँ जहाँ तुल्यता है, वहां वहां विद्यायोनि सम्बन्ध वशीकरण में हेतु है, लोक में भी यही प्रकार देखने में आता है कि सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतिवाले जिस प्रकार के मनुष्य, उसी प्रकार की विद्या, देवता, फल आदि मिलते हैं, तथा परस्पर तुल्ययोनिसम्बन्ध नहीं होता तो आपस में खटपट होती रहती है प्रीति नहीं होती हैं, और यदि दोनों पक्षों को तुल्यता होती है तो एक के वश में एक होकर मेल रहता है, यहां तो तुल्यता नहीं है, इसमें मालूम होता है कि नियत वह आप में यशोदासूनुत्व तिरोहित जैसा है, अतः तुल्यता का अभाव होने से उपालम्भ युक्त नहीं है ।

गोपियां कहती हैं कि आप केवल वैकुण्ठ के अधिपति पुरुषोत्तम नहीं हो, किन्तु अखिल देहधारियों के तथा हम सबके अन्तरात्मा को—अन्तःकरण को देखते हो, हमारे हृदय में इस प्रकार का ताप देखे तो प्रसन्न ही हो, अर्थात् सेवक का दुःख देखकर भी दया नहीं आती है, इसलिये अब इस विषय में कुछ कहना नहीं है ।

गोपियों के इस प्रकार कहने से भगवान् में सेवकों के दुःख पर ध्यान न देने का दोषारोप प्राप्त होता है, इस आक्षेप को दूर करने के लिये पहिले यशोदा के अधीन भगवान् है, इस प्रकार कहकर निश्चय गोकुलस्वामी, पुत्र हैं, इस समय हमारे अधीन नहीं है, इसलिये गोपियां कहती हैं कि हममें उस प्रकार की विद्या आदि नहीं है, इसका विचार करना चाहिये उपालम्भ नहीं देना चाहिये इस आशय से गोपियां वाक्यान्तर कहती हैं 'किञ्च' ।

गोपियां भगदान् में दोष का अभाव विशेषाकार से समर्थन करती हुई कहती हैं कि भगवान् अस्मदादि के परिपालन के लिये पधारे हैं, यदि भगवान् 'ये गोपियां मर रही हैं' इस बात को जानें तो परिपालन—रक्षण करें, हमारी रक्षा करने के लिये ही ब्रह्मा ने प्रार्थना की है, भगवान् स्वयं अपनी इच्छा से नहीं पधारे हैं, इस बातको गोपियां कहती हैं 'विखनसार्थितः' ।

विखना—ब्रह्मा जो विशेष खनन करता है-खोदता है, वह विखना कहलाता है, अर्थात् जो वेदके अर्थका बिचार करता है, इसी से ब्रह्मा ने वैखानस मत किया है, जिसमें भगवद्भजन प्रतिपादित किया है, इसी मार्ग से भगवान् पूजा ग्रहण करता है, वेंकट अद्रि में वैखानस मतानुसार पूजा होती है अतः सर्व की पूजा को भी ग्रहण करने के लिये ब्रह्माने प्रार्थना की थी, 'विश्वगुप्तये' विश्व की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा ने भगवान् की प्रार्थना की, यह प्रार्थना करने का मुख्य प्रयोजन है ।

इसी प्रकार आप अन्तरात्मा हो, अतः सर्व जीवों के आप सखा हो, इस प्रकार की लोक में सख्य प्रकट करने के लिये सात्वत—यादव अथवा वैष्णवों के कुल में प्रकट हुए, लोक में सख्य प्रकट करने के लिये ही आप पधारे हो, आविर्भाव से पहले भी आप हमारे सखा थे।

आप अपनी इच्छानुसार प्रेरणा करते हो, 'सुपर्णावेतौ सयुजौ सखायौ' इस श्रुति के अनुसार अन्तरात्मा जीवका सखा होता है, इस समय आपकी रमण करने की इच्छा हुई है, इस लिये आप हम को अपनी इच्छानुसार प्रेरणा कर रहे हो।

हमारा सब का नायिकाभाव ही नित्य है, इस प्रकार के भगवान् का आगमन नायिकाओंके लिये अपना आत्मा समर्पण करने के लिये ही होता है, इसलिये आत्मसमर्पण करना उचित है, यह भाव है इसी आशय से गोपियां कहती हैं कि 'आगतस्येति'।

सब के सखा भगवान् जिस समय प्रकट होते हैं, उस समय फिर कुछ विशेष कार्य होना चाहिये, वह विशेष कार्य भगवान् का भक्तों को आत्मनिवेदन रूप होता है, अर्थात् आत्मास्वरूपानन्द उसका निवेदन—भक्तों में अनुभावन रूप विशेष होता है, अब इससे विशेष हम क्या विज्ञप्ति करें जिस प्रकार आपको उचित लगे, उसी प्रकार करना चाहिये, यह भाव है ॥ ४ ॥

(सुबो०) अन्याः पुनः सात्त्विकसात्त्विक्यः राजसप्रधानाभ्यो विशिष्टाः, अप्रार्थितं च भगवान् न दास्यतीति भगवत्करस्य स्वशिरःसंबंधं प्रार्थयन्ति-विरचिताभयमिति ।

अब अन्य गोपियां फिर सात्त्विकी हैं, राजस प्रधान गोपियों से विशिष्ट हैं उत्तम हैं, विना प्रार्थित वस्तु को भगवान् नहीं देंगे, इस प्रकार विचार कर भगवान् के श्रीहस्त का अपने शिर पर सम्बन्ध होने की प्रार्थना करती हैं।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(हे वृष्णिधुर्य) हे यादव कुलमें श्रेष्ठ (हे कान्त) कं—सुखं तेषां अन्तः यस्मिन् संबुद्धौ, सुखों का अन्त जिसमें वह कान्त होता है, हे पति (ते) आपका (करसरोरुहम्) हस्तकमल (संसृतेः) संसार के (भयात्) भय से (शरणम्) शरण को (ईयुषां) प्राप्त हुए जीवों को (विरचिताभयं) अभय करनेवाला (कामदं) इच्छित वस्तु को देने वाला (श्रीकरग्रहम्) लक्ष्मी का पाणिग्रहण जिसने किया, उस हस्तकमल को (नः) हमारे (शिरसि) मस्तकपर (धेहि) आप धरो ॥५॥

भाषार्थ—हे यादवकुल में श्रेष्ठ ! हे कान्त ! आपका हस्तकमल संसार के भय से आपकी शरण प्राप्त हुए जीवों को अभय दान देनेवाला है, तथा अभिलाषा पूर्ण करने वाला है, जिसने लक्ष्मी का पाणिग्रहण किया है, उस हस्तकमल को हमारे शिर पर धरो ॥ ५ ॥

(सुबो०) हे स्वामिन्, हृदयं स्फुटति । अतः यथा सर्वाङ्गे आप्यायनं भवति, तथा शिरसि करसरोरुहं धेहि । शीतलं हि कमलं भवति । तत्रापि सरसि जातम् । तत्रापि कर एव सरःस्थानं सरसिजस्थानं च । अत उद्धरणादिना न रसालतापगमः । कान्तेति संबोधनम् । प्रथमतः शिरसि हस्तस्थापनेन स्वाधीनीकरणं द्योतितम् । किञ्च, न केवलं हस्तस्तापमेव दूरीकरोति, किन्तु कामदं च । अभिलषितं कामं प्रयच्छति । ननु भगवान् पुरुषोत्तमः, कथं स्त्रीणां स्पर्शं करिष्यति इति चेत्, तत्राह – श्रीकरग्रहमिति । श्रियाः करस्य ग्रहो ग्रहणं येन । अतो भगवान् गृहस्थ इति । यत्र लक्ष्म्या हस्तं गृह्णाति, तत्रास्मच्छिरोग्रहणे किं भविष्यतीति भावः । ननु लक्ष्मीर्विवाहितेति विधिवशात् तस्या हस्तग्रहणम्, भवतीनां ग्रहणे को हेतुरिति चेत्; तत्राहुः संसृतेर्भयात् शरणमीयुषां विरचिताभयमिति । यथा विधिर्विवाहे, तथैव शरणागतपालनेऽपि । विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती । स साधारणधर्मः, अयमीश्वरधर्मं इति । नन्वयं निषिद्धः प्रकार इति कथं पालनमिति चेत्, तत्राहुः—हे वृष्णिधुर्येति । वृष्णिर्हि यदुवंशोद्भवः बहुस्त्रीकः बहुवंशकर्ता । तद्वंशेऽपि भवान् धुर्यः श्रेष्ठः । तत्रापि स्त्रियः संसारभयात् समागताः । न हि संसारः स्वभावत एव दुष्टः, किन्त्वसह्यदुःखहेतुरिति । तथा वयमपि महत् दुःखं प्राप्नुम इति दृष्टादृष्टद्वारा भवांस्तन्निवर्तक इति । अनेनैव निर्भयतापि सूचिता । अतः कान्तसम्बोधनात् भवानेव भर्ता । अतः स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन् वाञ्छितं कुर्वित्यर्थः ॥५॥

हे स्वामिन् ! हमारा हृदय फूटता है, इसलिये जिस प्रकार सर्व अङ्ग में शान्ति हो, उसी प्रकार हमारे मस्तक पर हस्तकमल धरो। हृदयकमल स्वस्थ होता है तो सर्व अङ्गका वृद्धिजनक होता है, हृदयकमल तो फट रहा है, अतः हृदयकमल में आप्यायन नहीं करता है, किन्तु इस कार्य के लिये मस्तक पर आप अपना हस्तकमल धरो, यह अर्थ है।

अब गोपियां कमल को आप्यायकत्व कहती हैं।

कमल शीतल होता है, उसमें भी सरोवर में उत्पन्न हुआ है, जल सिञ्चन करने से जैसे तैसे बड़ा नहीं हुआ है, उसमें भी भगवान् का हस्त ही सरोवर और कमलस्थानीय है, इसलिये जिस प्रकार सामान्यकमल को उखाड़ ने आदि से उसकी रसालता चली जाती है, उस प्रकार आपके हस्तकमल का उद्धरण होने पर रसालता नहीं जाती है, कारण कि भगवान् का हस्त कमल सरोवर रूप है।

यहां सरोरुह पद से ताप दूर करने के लिये करस्थापन गोपियों ने कहा है।

कान्त यह संबोधन है, प्रथम भगवान् हमारे मस्तक पर हस्त कमलस्थापन करके हमको अपने अधीन करें, शरणमें ले, यह भाव सूचन किया है।

अब हस्तकमल स्थापन करने का दूसरा प्रयोजन गोपियां कहती हैं।

आपका हस्त केवल ताप को ही दूर नहीं करता है, किन्तु 'कामदं च' अभिलषित कामको भी देता है,

यदि शंका करो कि भगवान् पुरुषोत्तम है, योगियों के ध्यान करने योग्य है, स्त्रियों का स्पर्श क्यों करेंगे।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'श्रीकरग्रहम्' भगवान् ने लक्ष्मी जी का हस्तग्रहण किया है, अतः गृहस्थ है, जहां लक्ष्मीजी का हस्तग्रहण करता है, वहां हमारे सिरके ग्रहण में क्या होगा, यह भाव है।

यदि शंका करो कि लक्ष्मी तो विवाहिता है, विधिवश से उसका हस्त ग्रहण किया है, आप सब के मस्तक ग्रहण करने में कौन सा कारण है, कहिये ।

इस शंका के समाधान में गोपियां कहती हैं, कि 'संसृतेर्भयात् शरणमीयुषां विरचिताभयम्' जिस प्रकार विवाह में शास्त्रविधि है, उसी प्रकार शरण में आये मनुष्य की रक्षा करने की विधि है। विवाह की अपेक्षा शरणागत की रक्षा करना बड़ा है, विवाह लोक में साधारण धर्म है, शरणागत की रक्षा करना ईश्वरधर्म है।

यदि कहो कि जिस कार्य के लिये तुम शरण में आई हो, उसकी रक्षा का प्रकार निषिद्ध है, मैं कि प्रकार पालन करूं।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'हे वृष्णिधुर्य' वृष्णि यदुवंश में उत्पन्न हुआ था, उसके बहुत सी स्त्रियां थीं, और वह बहुत वंश करने वाला हुआ था, उस यदुवंश में भी आप धुर्य—श्रेष्ट हो, वृष्णिधुर्य होने से आपको स्त्रियों का ही पालन करना चाहिये। उसमें भी संसार के भय से स्त्रियां आपके पास में आई हैं, इनकी रक्षा करना आपको आवश्यक है।

यदि कहो कि गोपियो ! तुमको संसार का भय कहां है, जिससे तुम संसार का भय बतलाती हो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि संसार स्वभाव से हा दुष्ट नहीं है, किन्तु असह्य दुःख का हेतु है, उसी प्रकार हम सब भी आपके विरह से महान् दुःख पा रही है, अतः दृष्ट अथवा अदृष्ट द्वारा आपका दुःखहेतु-निवर्तक स्वभाव है, इसलिये हमारा भी दुःखहेतु दूर करना चाहिये !

संसार-निवर्तकत्व कथन से—अर्थात् अन्य जीवों को अभयदान भगवान् देते हैं, इस प्रकार के कथन से गोपियों ने अपने लिये भी निर्भयता सूचित की है, उक्त प्रार्थना से गोपियों ने दुःखनिवृत्ति की ही प्रार्थना की है, यह भाव है।

अन्य जीवों को अभय सम्पादन करने से, तथा उससे अपने लिये भी अभय सूचन करने से 'स वै पतिः स्यात्' इस श्लोकानुसार वही पति है, जो अभयदान दे, इस प्रकार कथनानुसार कान्त संबोधन से आप ही हमारे भर्ता हो यह गोपियों ने सिद्ध कर दिया है।

अतः गोपियां कहती हैं कि स्त्रियों के सम्बन्धि व्रतका स्मरण करके स्त्रियों का पालन हो करना चहिये,

इस प्रकार के नियम का अनुसरण करके हमारा मनोरथ पूर्ण करो, इस प्रकार का अर्थ है ।।५।।

(सुबो०) ततः तामसी किञ्चिद्वैलक्षण्येन धाष्टर्येन तमेवार्थं प्रार्थयति व्रजजनार्तिहन्निति ।

इसके अनन्तर सात्त्विक तामसी कुछ विलक्षणता से उसी अर्थं की धृष्टता से प्रार्थना करती है।

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

पदपदार्थ—(हे व्रजजनार्तिहन्) हे व्रजजनकी आर्ति-दुःख के नाश करनेवाले (योषितां वीर) स्त्रियों के मध्य में वीर (हे निजजनस्मयध्वंसनस्मित) हे निजजन के गर्व को दूर करने

के लिये मंदहास्य वाले (हे सखे) हे मित्र (भवत्किंकरीः) आपकी दासियों को (भज) भजो (स्म) प्रसिद्ध अर्थ में (नः) हमारे लिये (चारु) सुन्दर (जलरुहाननं) कमलसदृश मुख को (दर्शय) दिखाओ ।।६।।

भाषार्थ—हे व्रजजनकी आर्ति के नाश करनेवाले, हे स्त्रियों के वीर, हे निजजन के गर्व को दूर करने के लिये मन्द हास्य वाले, हे सखा, आपकी दासियां हमको भजो, तथा हमको अपना सुंदर कमलसदृश मुखका दर्शन कराओ ॥ ६ ॥

(सुबो०) हे भगवन् एता वक्तुं न जानन्ति । मया तु निर्धारितमुच्यते । हे सखे इति अप्रतारणार्थं संबोधनम् । नः अस्मान् भजेति हितोपदेशः । ननु कथमेवं धाष्टर्यं निषिद्धं च बोध्यते, तत्राहुः—भवत्किंकरीरिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति हि तव प्रतिज्ञा । अतो यथा किंकर्यो वयं भवन्तं भजामः, तथा भवानपि भजतु । किंकरीत्वं तव प्रतिज्ञा च प्रसिद्धेत्याहुः—स्मेति । न केवलमस्मद्भजने तव सैवैका प्रतिज्ञा हेतुः, किन्तु अन्येऽपि हेतवः सन्ति । प्रथमं अवतारप्रयोजनम् । व्रजजनार्त्तिहन्निति । व्रजजनानां आर्तिं हन्तीति तथा । नातः परमन्या आर्तिरस्ति । सामान्यप्रयोजनमेतत् । विशेषप्रयोजनमाहुः—योषितां वीरेति । कृष्णो भगवान् । वीरैर्हि शूरा निराकरणीयाः, अन्यगतकामादयः । तत्र मुख्यः कामः । स च बहुविधः । अन्तर्बहिः पदार्थेन पूर्णेन पूरयित्वाश्रयाभावान्निवारणीयः । अत एव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्यः । अतो भवान् महावीरः । अन्तःस्थितेनानन्देन अतिदरिद्राणां ब्रह्मणापि पूरयितुमशक्यानामिच्छापूरकः । अयं चार्थस्तव सर्वजनीनः । अतः योषितां वीरेति सम्बोधनम् । न हि कृष्णादन्यो जगति कश्चिदेवं सम्बोधनमर्हति, अपूर्णकामत्वात् । अतोऽवतारसामान्यविशेषप्रयोजनाभ्यां च नो भज । ननु सत्यम्, तथापि भवतीनामभिमानदोषनिवृत्त्यर्थं भजनं न क्रियते इति चेत्, तत्राह—निजजनस्मयध्वंसनस्मितेति । निजजनाः सेवकाः तेषां स्मयो गर्वः तस्य ध्वंसनार्थं स्मितं यस्य । निजजनानां स्मयदूरीकरणार्थं परित्यागो नोपायः, किन्तु तदर्थं स्मितमेव कर्तव्यम् । स्मितं हि मन्दहासः । 'हासो जनोन्मादकरी च माया' । तस्या मन्दत्वं भक्तेष्वप्रवर्तनम् । न हि मायामोहव्यतिरेकेण निजजनानाकस्यचित्स्मयो भवति । अत एव हास्यसंकोच एव साधनम् । इत्यलौकिमपि धर्म एव दुष्टः, नतु धर्मी । अन्यथा निजजनत्वमेव न स्यात् । यदा कोपायः । लौकिकेऽपि तव हास्येन ता अपि आत्मानं तुल्यं मन्यन्ते । स पुनर्हास्ये संकोचः, तदैव तासां गर्वो निवर्तते । किञ्च, अभिमानो हि दोषः । नहि काचित्तादृशमतावदेव तिष्ठति, यावत्तव स्मितयुक्तमाननं न पश्यति ।

प्याननं दृष्ट्वा स्वाभिमानं पालयितुं शक्ता। नन्वेतल्लोके अप्रसिद्धं साधनत्वेनेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्याहुः—जलरुहाननं चारु दर्शयेति। जलरुहं कमलं तत्सदृशमाननममृतस्रावि। न ह्यमृते पीते कस्यचिद्दोषस्तिष्ठतीति युक्तिः। साधनत्वे चेत्संदेहः, एकवारं प्रदर्श्य पश्येत्यर्थः। किञ्च, अभिमानो हि मनोधर्मः, तव आननं तु चारु मनोहरम्। नहि धर्मिणि हृते धर्मस्तिष्ठति। सख्युः सखिभजनं युक्तमेव ॥ ६ ॥

हे भगवन् ये सभी गोपियां आपसे क्या कहना चाहिये इस बात को नहीं जानती हैं, अब आपसे मैं निर्धारित बात कहती हूं हे सखे, इस संबोधन का तात्पर्य यह है कि आप हमारे सखा हो इसलिये मैं आपसे प्रतारण-कपट में ठगने के वाक्य न कह कर सत्य सत्य वाक्य कहती हूं कि 'हमको आप भजो' यह हित करने वाला उपदेश है, मित्र को मित्र हितोपदेश करता है, यह हितोपदेश हित करने वाला हमको तथा आपको लाभकारक है, इसलिये इसको करना चाहिये।

गोपियां कहती हैं कि यदि आप शंका करो कि 'हमारा भजन करो' इस प्रकार की धृष्टता और निषिद्ध प्रकारका बोध क्यों करती हो।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं 'भर्त्तिककरीः' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' 'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं उसको उसी प्रकार भजता हूँ' यह आपकी प्रतिज्ञा है इसलिये जिस प्रकार हम दासियां आपका भजन करती हैं, उसी प्रकार आप भी हमारा भजन करो, हम आपकी किंकर हैं, और आपकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है, इस बात का मुल के 'स्म' शब्द से बोध होता है।

हमारे भजन करने में केवल एक आपकी प्रतिज्ञा ही हेतु नहीं है. किन्तु अन्य भी कारण हैं, प्रथम प्रयोजन भगवान् का अवतार है, इस बात को गोपियां कहती हैं कि 'व्रजजनार्तिहन्'।

आपका अवतार केवल व्रजजनकी आर्ति दूर करने के लिये है, इससे अन्य—दूसरी आर्ति नहीं है, व्रजजन की आर्ति दूर करना यह आपके अवतार का सामान्य प्रयोजन है।

अब गोपियां भगवान् के अवतार का विशेष प्रयोजन कहती हैं, 'योषितां वीर' हे स्त्रियों के वीर, इस पदका समुदायार्थ सुबोधिनी में 'कृष्णो भगवान्' कृष्ण भगवान् कहा है, स्त्रियों के वीर तो कृष्ण भगवान् षडैश्वर्यवाले ही हो सकते हैं, अन्य किसी में योषितां वीर, सम्बोधन घट नहीं सकता है, कारण कि भगवान् कृष्ण आप्तकाम हैं, अन्य सब सकाम हैं, जब अपनाही काम पूर्ण नहीं कर सकते हैं तब दूसरों का काम पूर्ण कैसे कर सकते हैं, अतः कृष्ण भगवान् ही स्त्रियों के वीर—स्वानन्द दाता हैं।

अब संबोधन का फलित अर्थ कहते हैं कि वीरों द्वारा शूर ही निराकरण के योग्य होते हैं, दान वीर—दातालोग बहुत दान देकर दूसरों की अभिलाषा पूरी करते हैं, उसमें मुख्यकाम है, अन्नादिकाम की अपेक्षा कामशास्त्रसिद्ध काम मुख्य है, और वह काम बहुत प्रकार का है, भीतर बाहर पूर्ण पदार्थ—स्वरूपानंद द्वारा पूर्ण करने से जब उसको रहने का स्थान नहीं मिलेगा, तब उस काम का निवारण हो जायगा, इसीसे लोकमें वीरों से दानवीर—दाताओं की कीर्ति विशेष होती है।

वीर तो जो मारने योग्य होता है, उसको स्वरूप से मारते हैं, और दाता तो दीन के घर को समृद्धि से पूर्ण करके उसकी दरिद्रता को दूर करते हैं, दरिद्री के घर में लक्ष्मी पूर्ण करके दरिद्रता को अवकाश नहीं रहने देते हैं, उसके घर से दरिद्रता चली जाती है, यह हृदय का भाव है। इसलिये गोपियां कहती हैं कि दानवीर से भी आप महावीर हो। अधिक हो।

आप अपने अन्तः स्थित आनन्द से ब्रह्मा भी जिन दरिद्रियों की इच्छा पूरी नहीं कर सकता है, इस प्रकार के अति दरिद्रियों की इच्छा पूरण करनेवाले हो, इस प्रकार का अर्थ आपका सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसलिये 'योगिनां वीर' यह सम्बोधन है।

कृष्ण से अन्य जगत् में कोई भी इस प्रकार के संबोधन के योग्य नहीं है, कारण कि अन्य सबमें पूर्ण काम नहीं है, इस लिये आप अपना अवतार का सामान्य प्रयोजन—व्रजजन की भांति दूर करना, विशेष प्रयोजन 'योषितां वीर' स्त्रियों को स्वरूपानन्द का दान करना, इन दोनों प्रयोजनों का विचार करके हमारे लिये भजो।

यदि आप शंका करो कि गोपियो! तुम ठीक कहती हो, तो भी तुममें 'हम सबसे अधिक हैं' इस प्रकार का अभिमान दोष स्मय है, जब तक उसको दूर नहीं कर दूंगा, तब तक तुमको नहीं भजुंगा। इस प्रकार भगवान् यदि कहते हैं तो इसके उत्तर में गोपियां कहती है, 'निजजनस्मयध्वंसनस्मित' निजजन-सेवक इनका स्मय-गर्व, उसके ध्वंसन करने के लिये स्मित जिसका, इस प्रकार के आप हो, अर्थात् अपने सेवकों का गर्व दूर करने वाला आपका स्मित है!

निज जनों का स्मय दूर करने के लिये परित्याग करना उपाय नहीं है, किन्तु उनका गर्व दूर करने के लिये आपको स्मित ही करना चाहिये, स्मित—अर्थात् मंदहास 'हासो जनोन्मादकरी च माया' श्रीभाग० द्वि० अ० १ भगवान् का हास्य मनुष्यों को उन्माद करनेवाली माया है, यह हासरूपी माया भक्तों में जब प्रवृत्त नहीं होती है, तब इसको मन्द कहते हैं, मायाद्वारा मोह बिना किसी को स्मय-गर्व नहीं होता है, इसलिये हास्य का संकोच ही हमारा गर्व दूर करने में साधन है, अतः हमारा त्याग न करने तथा आप अपना मंदहास करके हमारे अहंकार का नाश करो।

निज भक्तों का धर्म ही दुष्ट है, रसमें प्रतिबन्धक स्मय दोष ही है, धर्मी हम सब सेवक भक्त दुष्ट नहीं हैं, यदि इस बात को नहीं मानते तो निजजन ही नहीं कहलायें।

इस प्रकार गोपियों ने अपना लौकिक अहंकार का नाश करने के लिये भगवान् का स्मितरूप अलौकिक उपाय बतलाया है, लौकिक उपाय में भी आपके हास्य से गोपियां भी अपने को आपके तुल्य मानती हैं, अर्थात् हमारे हास्य से आप का भी गर्व दूर हो जाता है, जिस समय फिर आपके हास्य में संकोच—मंदहास होता है, उस समय गोपियों का गर्व दूर हो जाता है।

अब रसमार्गीय उपाय गोपियां कहती हैं कि, अभिमान दोष है, और रसकी प्राप्ति में प्रतिबन्धक है, वह अभिमान तभी तक रहता है कि जबतक आपका स्मितयुक्त मुख नहीं दीखता है, कोई भी स्त्री इस प्रकार आपका स्मितयुक्त मुख का भी दर्शन करके अपने अभिमान का पालन नहीं कर सकती है, अर्थात् आपके मंद हास्य युक्त मुख का दर्शन करके स्वाभिमान रह नहीं सकता है—चला जाता है।

इस प्रकार 'निजजनस्मय' इस पदका अर्थ गोपियों ने क्रम से शास्त्रीय, लौकिक, और रसमार्गीय तीन प्रकार से कहा है।

यदि आप कहो कि स्मित अभिमान का नाश करने वाला साधन लोक में प्रसिद्ध नहीं है, फिर कैसे जाना जाये।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (जलरुहाननं चारु दर्शय) जलरुह-कमल, कमल के सदृश आनन-मुख, अमृत स्राव करनेवाला है।

अमृत का पान करने पर कोई भी दोष नहीं रहता है, इसमें युक्ति है।

आपका स्मित भक्तों का अभिमान नाश करनेवाला साधन है, इसमें यदि आपको संदेह हो तो एकवार अपने मुखका दर्शन करा कर देखो, हमारा अभिमान-अहंकार आपके मुख का दर्शन करके जाता है कि नहीं, इस बात का आप अनुभव करो।

अभिमान मन का धर्म है, और आप का मुख तो चारु-मनोहर मनका हरण करने वाला है, धर्मी-मन का हरण करने पर मन का धर्म अभिमान कैसे रह सकता है, अर्थात् रहता ही नहीं है, इसलिये सखा को सखी का भजन करना युक्त ही है ॥६॥

(सुबो०) राजसी तु तत उत्तमा तमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रार्थयते-प्रणतदेहिनामिति।

अब सात्त्विकराजसी गोपी सात्त्विकतामसी से उत्तम है, अतः पूर्वोक्त अर्थ की प्रकारान्तर से प्रार्थना करती है।

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

पदपदार्थ—(प्रणतदेहिनां) आप को प्रणाम करने वाले प्राणियों के (पापकर्षणं) पापनाश करनेवाला (तृणचरानुगं) गायों के पीछे चलनेवाला (श्रीनिकेतनम्) लक्ष्मी जी के रहने का स्थान (फणिफणार्पितं) कालिय नाग के फण पर धरा (ते) आपका (पदाम्बुजं) चरणकमल को (नः) हम सबों के (कुचेषु) स्तनों पर (कृणु) स्थापन करो (हृच्छयम्) हृदय में चोर की तरह स्थित काम को (कृन्धि) नाश करो ॥७॥

भाषार्थ—आपको प्रणाम करनेवाले प्राणियों के पाप नाश करने वाला, गायों के पीछे चलनेवाला, लक्ष्मी जी का स्थान, कालियनाम के फणपर धरा गया, आप अपना चरणकमल हमारे स्तनों पर धरो, और हमारे हृदय में चोर की तरह स्थित काम का नाश करो ॥७॥

(सुबो०) ते पदाम्बुजं नः कुचेषुकृणु कृणुष्व। छान्दसो लोपः। स्थापय। तस्य प्रयोजनं-कृन्धि हृच्छयमिति। हृदये चौरवत् स्थितं कामं कृन्धि। कुचेष्विति समुदायाभिप्रायेण बहुवचनम्। विरहेण भिन्नान् वा मन्यन्ते। शिरसि हस्तदानेन निकटे समानयनमुक्तम्। ततो भजनेन संबन्ध उक्तः। अनेन विपरीतरस उच्यते, बंधविशेषो वा तिर्यग्भेदः। एकवचनात्। तावता हि हृदयस्थितः कामो गच्छति। स्त्रीणां समूहे लीलाशयने परितः स्थितानां तथा संबन्धो भवतीति वा। ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनमिति चेत्, तत्राहुः—तत्र यथा चरणं फणिफणार्पितमिति। नहि कालियफणात् क्रूरा अस्मत्स्तनाः। तत्र यथा चरणस्थापनं कृत्वा तदन्तर्गतो दोषो दूरीकृतः, एवमत्रापि कर्तव्यः। अम्बुजपदेन च प्रत्यक्षतस्तापहारकत्वम्। ननु तथापि स्त्रीणां वक्षसि चरणस्थापनमयुक्तमिति चेत्, तत्राहुः-श्रीनिकेतनमिति। लक्ष्म्याः स्थानं तत्। लक्ष्मीः किल तत्र स्पर्शमर्हति, अन्यासु कः संदेह इति। ननु भवत्यो मूढाः, कथं भवतीनां हितं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः-तृणचरानुगमिति। तृणचरा गावः, तेषामप्यनुगं पश्चाद्गच्छति

तद्धितार्थम्, ते किं भगवता प्रेर्यमाणा इति तृणं परित्यज्यामृतं भक्षयन्ति। तेषां तृणमेवामृतम्, तथास्माकमपि काम एवामृतम्। नैतावता परमकृपालोः कश्चनार्थः क्षीयते। ननु भवतीनां जितेन्द्रियत्वाद्यभावात् पापमस्ति, तदपगमे पश्चात्पदं स्थापयिष्यामीति चेत्, तत्राहुः—प्रणतदेहिनां पापकर्षणमिति। वयं प्रकर्षेण नताः, नास्माभिः प्रकारान्तरेण निवर्तयितुं शक्यते, किन्तु तव चरणप्रसादादेव नम्राणां पापं गच्छति। तत्रापि देहिनः। प्रकर्षेण नतत्वेन धर्ममार्गादिपरित्याग उक्तः। देहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् न ज्ञानमपि। प्रणतानां हि नाप्यधो गतिः। अतस्तव पदमेव तेषां पापनाशकम्, चिन्तितम्, दृष्टम्, स्पृष्टम्, आलिंगितं वा ॥ ७ ॥

आप अपना चरणकमल हमारे स्तनों पर स्थापन करो। मूल श्लोक में 'कृणु' के स्थान में 'कृणुष्व' जानना चाहिये, इसमें 'ष्वं'का छान्दस लोप हो गया है, इसलिये मूल में 'कृणु' कहा है, इसका अर्थ स्थापन करो, यह होता है।

स्तनों पर चरणकमल स्थापन का प्रयोजन गोपियां कहती हैं कि 'कृन्धि हृच्छयम्' हमारे हृदय में चोर की तरह स्थित काम का नाश करो।

मूल में 'कुचेषु' इसमें बहुवचन समुदाय के-सर्व गोपियों के अभिप्राय से कहा है। और मूल में 'नः' इस प्रकार बहुवचन से स्तन बहुत से कहे हैं, अतः अरुचि से श्री महाप्रभुजी पक्षान्तर कहते हैं कि 'विरहेण' जिस समय गोपियों का भगवान् से संयोग होता है, उस समय स्तन भगवान् के उपयोग में आते हैं, इसीलिये गोपियों को ये स्तन हमारे हैं इस प्रकार का भान नहीं होता है, किन्तु, विरह में भगवान् के उपयोगी न होने से 'हमारे हैं' इस प्रकार का भान नहीं होता है, और अपने से भिन्न स्तनों को मानती हैं।

यदि आप हमारे स्तनों पर चरणकमल स्थापन नहीं करोगे तो हमसे भिन्न आप अपनी पक्षपातिनी अन्य गोपियों के स्तनों में अपना हस्तकमल स्थापन करो, इस प्रकार बहुवचन का भाव है।

पांचवे श्लोक में गोपियों ने मस्तक पर हस्त रखने की प्रार्थना करके समीप में आने की प्रार्थना की है।

इसके अनन्तर छठे श्लोक में हम दासियों का आप भजन करो, इस प्रकार की प्रार्थना से सम्बन्ध कहा है।

अब इस सातवें श्लोक में विपरीत रसकी गोपियों ने प्रार्थना की है।

अथवा तिर्यग् भेदरूप बंध विशेष की प्रार्थना की है, कारण कि 'पदाम्बुजम्' इसमें एकवचन का प्रयोग किया है।

भगवान् का चरण कमल स्तनोंपर स्थापित होने से गोपियों के हृदय में स्थित काम दूर हो जाता है।

सब गोपियों का मनोरथ तुल्य-एक-सा घट नहीं सकता है, अतः उक्त पक्ष भी बहुत्वसाधक नहीं है, इस अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं 'स्त्रीणां समूहे' स्त्रियों के समूह में भगवान् जिस समय लीलाशयन करते हैं, उस समय चारों तरफ स्थित गोपियों के मध्य में भगवान् का चरणारविंद

स्थित रहता है, अतः एक चरणारविन्द का अनेक गोपियों के स्तनों से सम्बन्ध हो सकता है, अर्थात् 'कुचेषु' यह वचन इस प्रकार से घट सकता है।

यदि आप कहो कि तुम्हारे कठिन स्तनों पर मैं अपना कोमल चरण कैसे स्थापन करूं।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'फणिफणार्पितम्' आपने अपना चरण कालिय नाग के फणपर धरा है।

कालिय नाग के फण से क्रूर-कठिन हमारे स्तन नहीं हैं। जिस प्रकार कालिय नाग के फण पर स्थापन करके उसके भीतर का दोष आपने दूर किया है उसी प्रकार हमारे स्तनों पर चरण स्थापन करके हमारे भीतर स्थित दोष दूर करना चाहिये।

यदि आप कहो कि कालियनृत्य में इस चरण का प्राकट्य नहीं है, वेणुगीत में जहांपर चरण का माहात्म्य निरूपण किया है, वहां पर कहा है, कि पुष्टिमार्गीय लीला में ही इस चरण का प्राकट्य होता है, कालियशिर-नृत्यलीला शुद्ध पुष्टिमार्गीय नहीं है, फिर 'फणिफणार्पितम्' यहां गोपियों ने चरण का विशेषण क्यों कहा है, किस प्रकार घटित होता है।

इस शंका का उत्तर 'इत्युन्मत्तवचो गोप्यः' इस प्रकार उन्मत्तवाणी वाली गोपियां हैं। पहिले अध्याय २७ श्लो० १४ में कहा है, यहां भी पूर्व वाक्य चला आ रहा है, इसलिये यहां भी गोपियों ने उन्मत्तता से वाक्य कहा है, इस प्रकार से कोई समाधान करते हैं। किन्तु वहां पर उन्मत्त वचनों का उपसंहार भी सुबोधिनी में अङ्गीकार किया है, इसलिये पूर्वोक्त असंगति यहां यथावत् रहती है, इसके दूर करने के लिये 'चेरुर्गोप्यो विचेतसः' पहिले २७ वे अध्याय के ३५ वे श्लोक में कहा है कि गोपियां विचेतस होकर फिरने लगीं। यह वाक्य यहां अनुस्यूत-चला आ रहा है, इस प्रकार प्रतीत होता है, अतः गोपियों का चित्त ठिकाने पर ठीक नहीं था, इस प्रकार की दशा में गोपियां जो कुछ भी कहती हैं वह ठीक ही है, वास्तव में तो यह विशेषण गोपियों ने ज्ञानपूर्वक ही कहा है, इसमें पूर्व विरोध नहीं है कारण कि सुबोधिनी में ही 'तत्र यथा चरणस्थापन' इस प्रकार कह कर दोष दूर करने के लिये कालिय, फणस्थित चरण का गोपियों ने वर्णन करके आगे 'अम्बुज' पद का व्याख्यान किया है, इससे मूल में क्रम से दोनों प्रकार के चरण का स्थापन व्यक्त किया है, इसलिये इस प्रकार की शंका का प्रयास नहीं करना चाहिये। यह मालूम होता है।

भगवान् के चरण को अम्बुज कहा है, इसलिये कमल की तरह भगवान् का चरण भी प्रत्यक्ष से ताप हरने वाला है।

यदि आप कहो कि तो भी स्त्रियों के वक्षस्थल में चरणस्थापन करना योग्य नहीं है।

तब गोपियां कहती है कि कालिय के फणपर कोमल चरण आपने क्यों धारण किया। इसमें भगवान् को अयुक्त कह कर प्रश्न का उत्तर गोपियों ने युक्ति से दिया है, दूसरा उत्तर गोपियां कहती हैं कि 'श्रीनिकेतनम्'।

आपका चरण लक्ष्मी जी का स्थान है, जब कि लक्ष्मी जी आपके चरण-स्पर्श योग्य प्रसिद्ध ही हैं, तब लक्ष्मी जी के ही अंशभूत अन्य स्त्रियां-हम सब गोपियां आपके चरण का स्पर्श करें तो इसमें क्या संदेह की बात है।

यदि आप कहो कि लक्ष्मी जी तो चतुर हैं, और तुम सब मूढ हो, तुम सबका हित मुझ को किस प्रकार के करना चाहिये।

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'तृणचरानुगम्'।

तृण खाने वाली गायों के भी पीछे उनके हित करने के लिये आपका चरणारविंद जाता है, वे गायें क्या भगवान् की प्रेरणा से तृण छोड़कर अमृत भक्षण करती हैं, जिस प्रकार उन गायों का तृण ही अमृत है, उसी प्रकार हमारा काम ही अमृत है, इस कार्य के करने से परम कृपालु आपका कोई अर्थ नष्ट नहीं होता है।

यदि आप कहो कि गोपियो तुम्हारे वश में इन्द्रिय नहीं है, और इस समय तुम सब में काम भाव होने से विषय रीति से रतकी इच्छारूप पाप विद्यमान है, जिस समय तुम्हारा पाप दूर हो जायेगा उस समय पीछे चरण-स्थापन कर दूंगा।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणम्'।

आपका चरणकमल स्थापन करने से ही कामभाव दूर हो जायगा, और सर्वात्मभाव प्राप्त हो जायगा, हम सब प्रकर्ष से नत हैं, अन्य प्रकारान्तर से हम पाप दूर नहीं कर सकती हैं, किन्तु आपके चरणप्रसाद से ही नम्र भक्तों का पाप दूर हो जाता है, इस से भी हम देहधारी हैं।

यहां पर प्रकर्ष से नमन कहा है, इससे गोपियों ने यह विज्ञापन किया है कि धर्ममार्ग आदि का हमने परित्याग कर दिया है, और देह में अभिमान विद्यमान है, इसलिये ज्ञान भी नहीं है, अर्थात् ज्ञानमार्ग का भी त्याग ही है।

प्रणतभक्तों की अधोगति भी नहीं होती है, कारण कि आपका चरण ही प्रणतों का पाप नाश करने वाला है।

जो भक्त आपके चरण का चिन्तन करे, दर्शन करे, तथा स्पर्श करे आलिङ्गन करे तो उसका पाप नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

अब उक्त ७ वें श्लोकपर स्वतंत्र लेख है, उसकी भाषा है शंका—प्रणतों को पाप क्यों प्राप्त होता है। इसका उत्तर भगवान् लोक में अपने धर्म का माहात्म्य प्रकट करने के लिये, अपने धर्म का भी प्राकट्य करके दोष का नाश करते हैं। अन्य धर्म से नहीं करते हैं, कारण कि भगवान् की इस प्रकार की इच्छा है, इसी से 'दुःसहप्रेष्ठविरह' यहां से लेकर 'धुताशुभाः' यहां तक कहा है, अर्थात् पापों का भोग किये विना ही प्रमेय बल से पाप नाश होते हैं, इस लिये प्रमेय बल पापनाश से पहले अपेक्षित है।

प्रभु से सम्बन्ध के विना पापनाश नहीं होते हैं, इसलिये भगवान् स्वधर्म लक्षण प्रमेय बल से जीवों के उद्धार की इच्छा जब करते हैं, तब प्रमेय बल से उन भक्तों के पाप नष्ट करते हैं, इसमें कुछ भी अयुक्त नहीं है।

शास्त्र के अर्थ को जान कर मन से शरण प्राप्त हुए प्रणत कहलाते हैं, देहाभिमान होने पर भी हीनाधिकार में भी उतना साधन आप सम्पादन करते हो, कि जिससे चरणकमल प्रकट करके उस प्रकार के भक्त को दुःख देने वाला जो विरहात्मक पाप है, उसको आप दूर करते हो, और जीव कृत साधन की आप अपेक्षा नहीं करते हो, आप स्वतः ही सर्व करते हो, उसी प्रकार यहां भी आप को सर्व करना चाहिये। यह भाव है।

अथवा यहां द्वन्द्वसमास जानना चाहिये, सर्व त्याग पूर्वक केवल भगवान् के अधीन हो जाना, यह न मन का प्रकर्ष है, उसमें दुःख देनेवाला होने से प्रथम नमन के प्रकर्ष में विरह ही पाप शब्द वाच्य है।

निषिद्ध कर्म करने से जो उत्पन्न होता है, उसको पाप कहते हैं, वह पाप यहां मानरूप है, मान करने वालों को दुःख होना उचित ही है, किन्तु आप का उस पाप को कर्षण करने का स्वभाव है, आप कृष्ण हो, इसलिये पाप दूर करो।

दूसरा पाप कर्म से उत्पन्न होता है, उसको नष्ट आप श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि से करते हो।

अथवा यहां कर्मधारय समास मानना चाहिये, प्रकर्ष से नति-सर्वात्म भाव, सर्वात्मभाव होने पर प्रभु में समर्पण करने के लिये देह, अभिमान आदि हैं, इस प्रकार भक्तों को प्रियस्वरूप से अतिरिक्त—अन्य का संग प्रतिबंधक होने से उसको पाप मानते हैं अतः उस अन्यसंग पाप को आपका चरण दूर करता हैं, इसी से 'विश्वतोभयात्' इस प्रकार कहा है।

'जगुः कृतानि पुण्यानि' इस वाक्य से आगे भगवान् के गुणों की पुण्यरूपता है।

'हृच्छय' हृदय में चोर की तरह रहनेवाला काम शीघ्र दुःख देनेवाला होता है, इसलिये इसको पाप मानते हैं, इसलिये यहां गोपियों ने उसके नाश की प्रार्थना की है, यद्यपि काम सङ्ग का उपयोगी है, तथापि सङ्ग में प्रतिबन्धक मान का हेतु है, इसलिये त्याग करने योग्य है।

अथवा प्रणत देह ही जिन भक्तों का है, किन्तु अन्तःकरण आदि प्रणत नहीं हैं, उन भक्तों का भी पापनाश करनेवाला आपका चरण है।

अथवा प्रणत देहधारियों के सम्बन्धी जो भक्त हैं, स्वयं प्रणत नहीं हैं, इस प्रकार के भक्तों का भी पापनाशक आपका चरण है, इस प्रकार गोपियों के कहने से भगवान् का चरण साक्षात् तथा परम्परा से अनिष्ट निवर्तक है।

अब और भी गोपियां कहती हैं कि अङ्गीकृत का पालन करने में आप योग्य अयोग्य का विचार नहीं करते हो, कारण कि तृणचरों के पीछे भी आप जाते हो, उनका जीवन तृण से ही होता है, तृण तो कुमार्ग में भी होते हैं, आप अपने अनुरोध से गायों को रोकते नहीं हो, किन्तु जहां उनका भक्ष होता है, वहां पर ही बिना विचारे मुञ्जाटवी की तरह चली जाती हैं, और आप भी उन गायों के पीछे पीछे उनके अधीन होते वहां पर ही जाते हो।

उक्त बात से गोपियों ने यह सूचन किया है कि हमारा भी जीवनहेतु आपका चरण कमल है, उसका मकरन्द मादक है, इसलिये आप के चरण कमल मकरन्द से मानरूप, उन्मार्ग—कुत्सितमार्ग में हम चली गयीं, तो भी आपको हमारी उपेक्षा करनी उचित नहीं हैं, कारण कि हमारा आपने अङ्गीकार किया है, यदि आप हमारी उपेक्षा करोगे तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा, अतः हम सब अत्यन्त क्लिष्ट हैं, इस प्रकार गोपियों ने कहा है।

उक्त कहने से गोपियों ने यह भी ज्ञापन किया हैं कि आपने ही यह रीति प्रकट की है, अन्त तक हमारा दोष नहीं है, नहीं तो आप श्रीकृष्ण के मुख से निकला वेणुगीत पीयूष को उस उस ऊंचे कानरूपी दोनाओं से प्रथम पान करके, यदि आप अपनी लीला विशेष के लिये अलौकिक प्रकार से गायों को प्रवृत्त नहीं करो तो लोक में लौकिकता से दीख रहे, किन्तु वास्तव में अलौकिक कहे गये तृण-पीयूष के तुल्य न हों तो सुखी गायों की प्रवृत्ति कैसे हो। वास्तव में तो उक्त भक्तिरस रूप तृणों में रुचि उत्पन्न करने के लिये आपका गायों के पीछे गमन होता है, इससे भक्तिरस पोषित तृण होते हैं, इसीलिये गायों की रुचि होती है।

इस प्रकार का भक्तिरस का हम सबमें स्थापन होने पर हमको भी आप अभीष्ट देनेवाले, तथा पालन करनेवाले होंगे। कारण कि अपने भक्तों में आपका इस प्रकार का स्वभाव है, यह भाव है।

और भी गोपियां कहती हैं कि आपका चरण लक्ष्मी का स्थान है लक्ष्मी जी की जाति की हम सब में भी चरण कमलस्थापन करना उचित है, कारण कि लक्ष्मीजी भी नायिका हैं, उनको भी रसपोषण समय में ही आपके चरण का सम्बन्ध अभीष्ट है, तृणसंचार समय में नहीं

है, क्रम से 'तृणचरानुगं' तथा 'श्रीनिकेतनम्' ये दो विशेषण कहके गोपियों ने यह ज्ञापन किया है कि यहां स्वयं साक्षात् आपके सम्बन्ध का समय न पाकर लक्ष्मीजी ने विचार किया कि प्रभु पशुओं की तृण से तृप्ति करके सायंकाल व्रज में आकर रात्रि में अपनी प्रियाओं के साथ क्रीडा ही करेंगे, उस समय प्रियाओं के सम्बन्ध से मुझको भी रमण सदृश हो जायगा, इस प्रकार लक्ष्मी जी का दूर पर्यन्त में हृदय है।

गायों के पीछे जाने से रज करके तथा परिश्रम से भगवान् में सौन्दर्य के अभाव की शंका भी दूसरे 'श्रीनिकेतनं' इस विशेषण से दूर कर दी है, अतः जैसे जैसे भगवान् गोचारण करते हैं, वैसे वैसे विशेष शोभा ही होती है, यह कहा है।

अथवा जिस समय भगवान् गायों के पीछे पीछे जाते हैं, उस समय स्नेह भर से कहीं भगवान् के कांटे आदि का स्पर्श न हो जाय इस प्रकार की शंका से स्वयं लक्ष्मी सूक्ष्म रूप से आपके चरण कमल के तल में स्थित होकर कांटे आदि के सम्बन्ध को निवारण करती हैं, उस समय आपका चरण श्री का निकेतन होता है, यह भाव कहा है।

और भी गोपियां कहती हैं कि यदि भगवान् अपनी इच्छा से गायों को स्वयं ले जायें तो आगे विषपानात्मक अनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु गायें अपनी इच्छा से जाती हैं, और प्रभु उनके पीछे उनके अधीन होकर आते हैं, इसलिये आगे अनिष्ट सम्बन्ध में, उस अनिष्ट को निवारण करने के लिये अम्बुज होने से अतिसुकुमार भी चरण अतिक्रूर कालिय के फण पर आप धरते हो, उस समय व्रजवासियों ने आप में अपने स्नेह की परीक्षा यथावत् सम्पन्न की, और आपने कालिय नाग पर प्रसन्न होकर उसके फण रूप मस्तकों पर ब्रह्मा आदि देवताओं को भी दुर्लभ रज जिनकी इस प्रकार के चरणों से नृत्य किया, नृत्य भी आपने अल्पकाल मात्र नहीं किया, किन्तु बहुत काल तक किया।

आपने नृत्यमात्र ही नहीं किया, किन्तु कालिय नाग का सदा के लिये रिपु भय दूर कर दिया, गरुड़ कालिय नाग के मस्तकों पर सदा आपका चरण कमल देखता है, अतएव 'फणिफणार्पितम्' इस विशेषण में अर्पण कहा है, स्पर्शमात्र नहीं कहा है।

अब गोपियां कहती हैं कि हमारी परीक्षा तो प्रथम ही सम्पन्न हो चुकी है, इसलिये हमको जो दुःख दे रहा है, उसका निवारण करना चाहिये।

वह दुःख देनेवाला भीतर स्थित हुआ चोर की तरह पीड़ा दे रहा है, आपके चरण कमल के सम्बन्ध से हमारे द्वारा वह चोर भी तापरहित होकर, फिर हमको भी नहीं तपावेगा। यह भाव है। यहां 'तापयतीति' इस प्रकार कथन से मालूम होता है कि चोर की तरह स्थित काम को भी ताप है, इस प्रकार लक्षित होता है।

क्रूर तथा तप्त में स्थापित आपका चरणकमल विकृत नहीं होगा, इस बात को ज्ञापन करने के लिये मूल में 'ते' तुम्हारा चरण कहा है, कारण कि आप विकार रहित हो, इसलिये चरण भी विकृत नहीं होगा।

गोपियां कहती हैं कि सर्वात्मा से हम सब आपमें प्राप्त हुई है, जब कि आप स्वार्थ पर, और सहज दोष से युक्त दुष्टों के ऊपर भी कृपा करते हो, तब स्वतः दोषरहित हमारे ऊपर भी कृपा करनी चाहिये, यह भाव है।

गोपियां कहती हैं कि विपरीत रस से हमारे स्तनों में चरणकमल स्थापन करने में पूर्व विशेषण 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणं' इसके अनुसार हम प्रणत हैं, प्रणतों के कार्य करने का आप पर

अति भार रहता है, अतः हमारा कार्य करने में आपको अत्यन्त आश्लेष करना पड़ेगा, उस समय जब अपने जन को भय, कम्पादि होता हैं, तब वेणी रूप का आप कर्षण करते हो ।

तुमको मैं जीतूंगी, इस प्रकार जीतने के वचन से मन, और वाणी में उस समय नतत्व का भाव नहीं है, इसलिये यहां देहमात्र कहा है, और पुंल्लिङ्ग का प्रयोग किया है ।

उस भाव की प्रधानता होने से तृणचर—गायों में भगवान् के चरण ने अपना भोग्य रस सम्पादन किया है ।

गायों को तृणभक्षण करने से तृणचरत्व है ।

'तृणचरेषु स्वभोग्यरससम्पादकम्' इस पंक्ति का भाव श्री हरि रायजी इस प्रकार लिखते हैं कि भगवान् गायों के सङ्ग में जाते हुए अपने चरण सम्बन्ध से तृणों को भक्तिरसामृत युक्त करके, उन तृणों से उत्पन्न दुग्धादि रस को अपने भोग्य योग्य विधान करते हैं, उसी प्रकार यहां जो अपने भोग्य रस है पुरुषत्व से, उसका सम्पादन करनेवाली जो रस की अधिकता है, उस अधिकता का सम्पादन करनेवाला भगवान् का चरण है ।

इस प्रकार भगवान् के चरण का सम्बन्ध होने पर भगवद्भोग्य जो रस पुरुषत्व है, उससे हमारा सम्बन्ध होगा, यह भाव है ।

यह स्वरूप गायों की लीला के उपयोगी हरी घास के प्रदेश में गमन से होता है ।

अथवा तृण—सबसे लघु है, गायें तृण की तरह लघु—मन्द चलती हैं, उस समय चलने के अति लाघव से रस का अतिशय होता है, इसलिये पुनः रस प्रकट करने के लिये प्रेरणा करते हुए भगवान् गायों को पीछे से चलाते हैं, इसलिये यहां 'तदनुगत्व' कहा है, अपने आप रस स्रवित होने से 'श्रीनिकेतनम्' यह विशेषण है, आगे 'फणिफणार्पितम्' इस विशेषण से विविध बन्ध विशेषों में नृत्य की तरह आप अपने चरणकमल को स्थापन करो, यह हृदय का व्यञ्जित अर्थ गोपियों ने कहा है, अब श्री हरिरायजी कहते हैं कि यह जो कुछ मैंने बिना विचारे युक्त अथवा अयुक्त कहा है, उसको प्रिया युक्त श्रीकृष्ण हमारे कुल के ईश्वर क्षमा करो ॥ १ ॥ ७ ॥

(सुबो०) इममेवार्थं ततोऽप्युत्तमा प्रकारान्तरेण प्रार्थयते—मधुरया गिरेति ।

अब सात्त्विक राजसी गोपी से उत्तम निर्गुणा गोपी इसी वाञ्छित उपकार रूप अर्थ की प्रकारान्तर से प्रार्थना करती है ।

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(हे पुष्करेक्षण) हे कमलनयन (हे वीर) हे शूर (वल्गुवाक्यया) मनोहर वाक्यवाली (बुधमनोज्ञया) विद्वानों को आनन्द देनेवाली (मधुरया) मधुर रसवाली (गिरा) वाणी से (मुह्यतीः) मोह को प्राप्त हुई (इमाः) ये सब (विधिकरीः) आपकी आज्ञा पालन करनेवाली दासियां (नः) हम गोपियों को (अधरसीधुना) अधरामृत का पान कराकर (आप्याययस्व) जिलाओ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे कमल नयन, हे वीर, मनोहर वाक्यवाली, विद्वानों को आनन्द देनेवाली मधुर वाणी से मोह को प्राप्त हुई इन आपकी आज्ञापालन करनेवाली दासी हम गोपियों को अधरामृत का पान कराकर जिलाओ ॥ ८ ॥

(सुबो०) हस्तेन च स्वरूपेण यदा चोपकृतिर्मता ।
मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ॥ १ ॥
पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते ।
तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥ २ ॥

श्लोक ५ 'विरचिताभयम्' इसमें 'शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्' यहां गोपियों ने हस्त से उपकार की प्रार्थना की है ।

'व्रजजनार्त्तिहन्' इस छठें श्लोक में 'भज सखे भवत्किंकरीः' यहां स्वरूप से उपकार की प्रार्थना की है ।

'प्रणतदेहिनां' इस ७ वे श्लोक में 'पदाम्बुजं कृणु कुचेषु' यहां चरण से उपकार की प्रार्थना की है, इस प्रकार यहां ५-६,७ तीन श्लोकों का अनुवाद किया है ।

'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में मुख से उपकार करना चाहिये, इस प्रकार गोपियों ने प्रार्थना की है ।

लोभ स्थित रस वाणी में विद्यमान रहता है, इसलिये मुख का उपकार भी करना चाहिये, यह मूल कारिका में 'हि' शब्द का अर्थ है ।

तो फिर यहां लोभ की प्रार्थना करनी चाहिये, वाणी की प्रार्थना नहीं कहनी चाहिये, वाणी की प्रार्थना का क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार की आकांक्षा में गोपियों ने जो मधुर वाणी की प्रार्थना की है, उसका प्रयोजन कहते हैं, 'पूर्वोक्तमपि' ।

जहां तक भगवान् मधुर वाणी से भाषण नहीं करते हैं, वहां तक पूर्वोक्त भी उपकार सब सरसता को प्राप्त नहीं होते हैं । चुपचाप रमण करने में रस प्राप्त नहीं होता है, अतः इस प्रकार की रसमर्यादा सूचन करने के लिये मधुर वाणी की आवश्यकता होती है, इसलिये गोपियों ने मधुर वाणी की प्रार्थना की है ॥ २ ॥

(सुबो०) हे स्वामिन् , मधुरया गिरा मुह्यतीरिमा गोपीराप्याययस्व ।
मोहो हि मरणपूर्वावस्थारूपः । तासामाप्यायने हेतुः विधिकरीरिति । आज्ञा-
कारिणीः सेवाकारिणीर्वा । असामर्थ्यं तु तव नास्तीत्याहुः—हे वीरेति । शौर्यं हि
आर्तानामार्तिनिराकरणार्थम् । इमा इति प्रदर्शनेन क्षणमात्रविलम्बेन मरि-
ष्यन्ति इति सूचितम् । ननु वाङ्मात्रेण कथं मोहनिवृत्तिरिति चेत् , तत्राहुः—
मधुरयेति । मोहो हि मायारूपः । स भवत्स्वरूपेणैव निवर्तते सच्चिदानन्द-
रूपेण । तत्र तव वाणी आनन्दरूपेत्याह—मधुरयेति । मध्वसाधारणो रसः ।
तद्युक्ता मधुरा । वल्गु मनोहरं वाक्यं यत्र । वाक्यस्य मनोहरत्वं सत्यप्रिय-
प्रतिपादकत्वेन । अतः सद्रूपता निरूपिता । बुधानां मनोज्ञा आह्लादकारिणी ।
अनेन ज्ञानरूपा निरूपिता । ते हि ज्ञानेनैव रता भवन्ति । मुखे नयने वर्तते
इति तयोरपि व्यापारं कृत्वैव वक्तव्यमित्याहुः—पुष्करेक्षणेति । कमलवत् पर-
तापापहारके ईक्षणे यस्य । किञ्च, अधरसीधुना अधरामृतेन च आप्याययस्व ।

वक्तव्याः द्रष्टव्याः पाययितव्या इति । मूर्च्छितानां हि मूर्च्छानिवारणार्थं महामन्त्राः पठ्यन्ते, कमलादीनि च शीतलद्रव्याणि स्थाप्यन्ते । सर्वथा असाध्ये अमृतमपि पाय्यते । अतिगोप्यान् वा रसान् पाययन्ति । इयं तु मूर्च्छा नाल्पेन निवारयितुं शक्येति वीरेति सम्बोधनम् । अनेनान्तिमावस्था प्रदर्शिता । पूर्वप्रार्थिताश्चार्थाः स्मारकत्वेनाधिकमूर्च्छाहेतवो जाताः ॥ ८ ॥

हे स्वामिन्, मधुर वाणी से मोह को प्राप्त हुईं इन गोपियों को जिलाओ, मोह मरण की पूर्वावस्था रूप है, अतः मोह का निवारण करना परमावश्यक है ।

अब गोपियों के जिलाने में हेतु कहते हैं, कि 'विधिकरीः' हम आपकी आज्ञा पालन करने वाली अथवा सेवा करनेवाली हैं ।

यदि आप कहो कि मुझमें जिलाने की सामर्थ्य नहीं है । तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (हे वीर) आप वीर हो, सामर्थ्य आपमें विद्यमान है, वीरों में शूरता आर्त—दुःखी लोगों का दुःख दूर करने के लिये होती है, 'इमाः' इस प्रकार इदम्शब्द का प्रयोग करके गोपियों की प्रत्यक्ष दशा दिखाई है, यदि क्षणमात्र का भी विलम्ब होगा तो ये सब गोपियां मर जायेंगी, यह सूचन किया है ।

यदि आप कहो कि गोपियो मेरी वाणीमात्र से तुम सबका मोह कैसे निवृत्त होगा ?

तब इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'मधुरया' ।

आपकी मधुर वाणी से मोह निवृत्त हो जायगा, कारण कि मोह मायारूप है, वह मोह आपके सच्चिदानन्द स्वरूप से ही निवृत्त होता है, इसमें आपकी वाणी आनन्दरूपा है, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि 'मधुरयेति' मधु यह असाधारण रसप्रीति है, कारण कि प्रीति का आनन्द धर्म है, प्रीतियुक्त आनन्द मधुर है, अतः प्रीतियुक्त वाणी आपकी मधुर है, और वल्गु—मनोहर वाक्य वाणी में हैं, सत्य तथा प्रिय प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भगवान् के हैं, इसलिये वाक्यों को मनोहर कहा है । इसी से भगवान् की वाणी को सद्रूपता निरूपण की है ।

भगवान् की वाणी विद्वानों को आनन्द देनेवाली है, इससे वाणी को ज्ञानरूपता—चिद्रूपता निरूपण की है, विद्वान् लोग ज्ञान से ही भगवान् में रत होते हैं ।

मुख में नेत्र होते हैं, इसलिये नेत्रों का भी व्यापार करके ही बोलना चाहिये, इस बात की प्रार्थना गोपियां करती हैं, 'पुष्करेक्षणेति' कमल की तरह दूसरों के ताप को हरण करनेवाले नेत्र भगवान् के हैं ।

आप अधरसीधु—अधरामृत से हम सबको जिलाओ । अर्थात् मधुर वाणी से आपको हम सबसे भाषण करना चाहिये, और कमलसदृश ताप हरनेवाले नेत्रों से हम सबको देखना चाहिये, तथा अधरसीधु-अधरामृत का हम सबको पान कराना चाहिये ।

आप उत्तम वैद्य हो, जिन पुरुषों को मूर्च्छा आ जाती है, उनकी मूर्च्छा निवारण करने के लिये महामन्त्रों का पाठ किया जाता है, तथा उनके शरीर पर कमल आदि शीतल द्रव्यों का स्थापन किया जाता है, यदि सर्वथा असाध्य हो तो अमृत भी पिलाते हैं, अथवा अति गुप्त रस का पान कराते हैं, किन्तु यह हमारी मूर्च्छा अल्प साधनों से, मनुष्य द्वारा दूर नहीं हो सकती है, इस भाव को सूचन करने के लिये यहां 'वीर' यह सम्बोधन दिया है ।

इस प्रकार गोपियों ने अमृत की प्रार्थना करके अपनी अन्तिम अवस्था-मरणावस्था का प्रदर्शन किया है ।

पहले जो हस्त, स्वरूप, चरण आदि अर्थों की प्रार्थना की थी, उस प्रार्थना से लीला का स्मरण गोपियों को हो गया, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ अधिक मूर्च्छा के कारण बन गये ॥ ८ ॥

(सुबो०) एवं पदार्थचतुष्टयं संप्रार्थ्य तददाने स्वयमेव हेतुमाशङ्क्य परिहरन्ति—तव कथेति ।

गोपियां इस प्रकार भगवान् से हस्त, स्वरूप, चरण और मुख इन चार पदार्थोंकी प्रार्थना करके, जब उक्त चार पदार्थ भगवान् ने नहीं दिये तब गोपियां स्वयं ही न देने में कारण की शंका करके कारण का परिहार करती हैं, यह आगे का श्लोक राजस सात्त्विकी गोपी का है ।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥

पदपदार्थ—(तव) आपका (कथामृतं) कथारूपी अमृत (तप्तजीवनं) संसार से तप्तों का जीवन है (कविभिः) ज्ञानियों से (ईडितं) स्तुत है (कल्मषापहं) पापों का नाश करनेवाला है (श्रवणमङ्गलं) श्रवण करने से आनन्द देनेवाला है (श्रीमत्) लक्ष्मीयुक्त है (आततं) सर्व लोकों में व्याप्त है (ये) प्रसिद्ध व्यासादिक (भुवि) पृथिवी में (गृणन्ति) गान करते हैं (ते) वे सब (भूरिदाः) बहुत देनेवाले (अजनाः) भगवान् के स्वरूप हैं, अथवा जन्मदोष आदि रहित है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—आपका कथा रूपी अमृत संसार से तप्त जीवों का जीवन है, और ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित है, पापों का नाश करनेवाला है, श्रवण करने से मङ्गल—आनन्द देनेवाला है, लक्ष्मी युक्त है, सर्वलोकों में व्याप्त है, इस प्रकार के कथामृत का जो व्यासादिक पृथिवी में गान करते हैं, वे सब बहुत देनेवाले और भगवद्रूप अथवा जन्मादि दोषरहित हैं ॥ ९ ॥

(सुबो०) ननु सर्वमिदं प्रार्थितं भक्तेभ्यो देयम्, नत्वभक्तेभ्यः । अभक्तत्वं च विरहेऽपि जीवनादवसीयते । भगवांस्तु सर्वनिरपेक्षकः । न तस्य भवज्जीवनेन कार्यम् । लक्ष्मीसदृश्यो यस्य कोटिशो दास्यः । 'अतस्त्वयि धृतासवः' इत्यप्यसंगतम् । तस्माद्वयर्थमेव प्रार्थनमित्याशङ्क्य परिहरति । नेदं जीवनमस्मत्कृतिसाध्यम्, किन्तु तव कथा विरहेण प्राणानां गमने प्रतिबन्धं करोति । कथायाः पुनः यथा तव सामर्थ्यं तथा । सापि षड्गुणात्मिका मोक्षदायिनी परमानन्दरूपा च, तदाहुः—तव कथा अमृतमिव । अमृतं भगवद्रसात्मकम् । सर्वेषां मरणादिनिवर्तकं यद्रूपं तदमृतशब्देनोच्यते । अतो मोक्षदातृत्वं परमानन्दरूपता च सिद्धा । इदानीं षड्गुणान्निरूपयन्ति—तप्तजीवनमित्यादिषड्भिः पदैः । तप्ता ये संसारे तेषां जीवनं यस्मात् । अमृतं हि तापनिवर्तकं प्रसिद्धमेव । वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम् । यत्संस्कारयोग्यं तत् ज्ञानेन नश्यति । यदयोग्यं तत्परित्यागेन । अत एव स्मार्त्तैः संस्काराशक्तैः परित्याग एव बोध्यते । अतो ज्ञानं वैराग्यं च तापनाशके भवतः । आपाततस्तापनाशकत्वं जलादावपि

वर्तत इति तदर्थमाह—कविभिरीडितमिति। कविभिः सर्वैरेव शब्दार्थरसिकैः ज्ञानिभिरीडितं ज्ञानं वैराग्यं वा। आपाततः स्त्रीषु तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहुः कल्मषापहमिति। कल्मषं पापमपहन्तीति। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्ये' त्यपि क्वचित्पाठः। अलौकिकसाधकं च वीर्यं महत् तद्धर्मरूपमेव भवति। धर्म्यं च पुनः कल्मषनिवर्तकं भवति। पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं च। कथायाश्च तथात्वं सर्वत्र प्रसिद्धम्। प्रायश्चित्तादीनामपि आपाततस्तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह-श्रवणमङ्गलमिति। तद्गोमयादिलेपनात्मकमुपवासात्मकं च स्वरूपतोऽप्यमङ्गलम्। घोरात्मकत्वात श्रवणेऽप्यमङ्गलम्। इदं तूदारचरितम्, श्रुतमेवानन्दं जनयतीत्यनुभवसिद्धत्वात् श्रवणमङ्गलम्। तेन कीर्तितुल्यता निरूपिता। पुत्रजन्यादिश्रवणस्यापि किञ्चिद्धर्मसाम्यात् श्रवणमङ्गलत्वमाशङ्क्य तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—श्रीमदिति। तद्धनव्ययसाधकम्, न तु धनसाधकम्। कथामृतं तु लक्ष्म्या अप्यपेक्षितत्वात् तद्युक्तं भवति। तेन श्रोतुर्वक्तुश्च तत्सिद्धिः। राज्यप्राप्तिश्रवणं तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—आततमिति। आ सर्वतः ततं व्याप्तम्। राज्यादिकं तु परिच्छिन्नम्। भगवत ऐश्वर्यं तु न तथा। अन्तर्बहिः सर्वेषां सर्वथा व्याप्तमिति। कथामृतं च पुनः सर्वलोकात् व्याप्य तिष्ठति स्वसामर्थ्यं सर्वत्रैव सम्पादयति। तस्मात् स्वरूपतो धर्मतश्च भवत्सदृशी भवत्कथेति तया कृत्वा जीवनम्, नतु स्वतः। अनेनोत्कर्षोऽप्युक्तः। त्वं कदाचिन्मारयस्यपि, कथामृतं तस्मिन्नपि काले जीवयतीति। भगवान् स्वतन्त्रः, कथामृतं परतन्त्रमित्येतावान् विशेषः। त्वं च अवतारे ब्रह्मादिभिः प्रार्थित आगच्छसि, आगतोऽपि तिरोभवसि। कथा तु समागता न तिरोभवति। अत एव तादृशं कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, त एव भूरिदाः बह्वर्थदातारः। य इति प्रसिद्धाः व्यासादयः। भूरिदाश्च ते भजनाश्च। ते केवलं भगवद्रूपाः। जननादिदोषरहिता वा, परं विरलममृतं केवलं मरणोपस्थितौ तन्निवर्तकमेवेति, न तु संभूयैकत्र रसजनकम्। रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः। अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्। परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्त्वेन स्तूयते। अतस्तैर्भगवत्कथाकथकैः बहु दत्तमिति तद्वशात् जीवनम्। एतत्सात्त्विक्याः ॥ ९ ॥

यदि भगवान् कहें कि जो पूर्वोक्त हस्तादि पदार्थों की तुमने प्रार्थना की है, वे सब पदार्थ तो भक्तों के लिये देने के योग्य हैं, अभक्तों के लिये नहीं दिये जाते हैं, तुम सब अभक्त हो, कारण कि विरह में भी तुम्हारा जीवन हो रहा है, इससे निश्चय होता है कि तुम सब गोपी भक्त नहीं हों।

भगवान् तो सर्वनिरपेक्ष हैं, भगवान् को किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, और यदि तुम्हारा जीवन नहीं रहा तो, तुम्हारे जीवन से भगवान् का कोई कार्य नहीं है, कारण कि लक्ष्मी जी के सदृश भगवान् के करोड़ों दासियां हैं, अतः तुमने जो कहा है कि 'त्वयि धृतासवः' तुम्हारे लिये हम सब प्राण धारण कर रही हैं और हम आपकी 'विधिकरीः' किंकरी हैं, इत्यादि प्रार्थना तुम्हारी व्यर्थ है।

इस शंका का गोपियां परिहार करती हैं और कहती हैं कि आपने कहा कि तुम अभक्त हो, अभक्त न होतीं तो विरह में जीवन कैसे हो सकता है, तुम अभक्तों का तो विरह में भी जीवन हो रहा है, जीवन से अनुमान अभक्तत्व का किया है, अतः जिस हेतु-कारण से गोपियों का जीवन हो रहा है, उस हेतु को गोपियां कहकर परिहार करती हैं।

जिस प्रकार यज्ञ में हिंसा अधर्म है, हिंसा होने के कारण, इसमें निषिद्धत्व उपाधि है, उसी प्रकार प्रकृत—चालू विषय में भी अपनी कृति से साध्यता उपाधि है, यह भाव है। इसी बात को गोपियां प्रदर्शन करती हैं, 'नेदं जीवनमस्मत्कृतिसाध्यम्' हम सबका जीवन हमारे प्रयत्न से नहीं हो रहा है, किन्तु आपकी कथा विरह से प्राणगमन में प्रतिबन्ध करती है, जो सामर्थ्य आप में है, वही सामर्थ्य आपकी कथा में है।

जिस प्रकार भगवान् छः गुण युक्त मोक्ष देनेवाले परमानन्द रूप हैं, उसी प्रकार भगवान् आपकी कथा भी ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः गुण युक्त है, अर्थात् इसके स्वरूप में छः गुण हैं, जिस कार्य को आप भगवान् करते हैं, उसी कार्य को आपकी कथा भी करती है, अतः पूर्वोक्त छः गुण युक्त है, और मोक्ष देनेवाली परमानन्द रूप है, इसी बात को गोपियां कहती हैं कि आपकी कथा अमृततुल्य हैं, अमृत भगवद्रसात्मक है, और सर्व का मरण आदि निवर्तक जो रूप है वह अमृत शब्द से कहा जाता है। 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' मरण निवर्तक वित्त भी नहीं है, इत्यादि श्रुति पूर्वोक्त प्रतिपादन करती है, अतः आपकी कथा को मोक्ष दातृत्व और परमानन्द रूपता सिद्ध होती है।

अब गोपियां कथा में स्थित छः गुणों का निरूपण 'तप्तजीवनं' इत्यादि छः पदों से करती हैं।

तप्त जो संसार में हैं, उन प्राणियों का जीवन आपकी कथा से होता है।

'तप्तजीवनं' इस पद का अर्थ वैष्णवतोषिणीकार करते हैं कि तप्त लोहे का गोला, और तप्त तैल आदि में जिस प्रकार 'जीवन' जल कुछ गिर जाता है, तो अधिक ताप उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आपका कथामृत भी वियोग में अधिक ताप को ही करता है, इस प्रकार तोषिणीकार ने उक्त अर्थ सुन्दर विचार से नहीं किया है, कारण कि तप्त लोहे के गोला में थोड़ा भी जल गिरता है तो वह जल अपने अनुरूप उष्णता का नाश ही करता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस बात को नहीं मानते हैं तो फिर अन्य अग्निसंयोग की तरह बहुत से जल का संयोग होने पर भी अधिक ताप का हेतु हो जायगा, तप्त तैल आदि में तो तैल को उत्तेजकत्व दीखता है, तो भी तीव्र अग्नि से जल का नाश हो जाता है। कथा तो विद्यमान है, इसलिये दृष्टान्त में वैषम्य है, तप्त तैलादि में जो उत्तेजकता है, वह बाहर अग्नि में फेंकने से है और वह दूसरों को ताप करने वाली है, किन्तु जल संयुक्त उसमें तापकत्व नहीं है, यह बात भी तप्त तैलादि में जल गिराने से प्रत्यक्ष देखी गयी है, प्रकृत में भी परताप करनेवाला, और अपने ताप की शान्ति करनेवाला कथामृत सिद्ध है।

यदि कहो कि भगवान् की कथा से ही जब सर्व ताप-निवृत्त हो जाता है, तब भगवान् के संयोग की आवश्यकता क्या है ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि, भगवान् की अपेक्षा इसलिये है कि कथाको स्वल्पता है, अर्थात् कथा तो सांसारिक सकल ताप निवृत्त करने में ही समर्थ है, किन्तु विरह से उत्पन्न महाताप निवारण करने में कथा की सामर्थ्य नहीं है, इसलिये भगवान् के संयोग की आवश्यकता रहती है, इसी से मूल में जीवन सम्पादकत्व ही कहा है, विरहताप-निवर्तकत्व नहीं कहा है, यदि वैष्णव तोषिणीकार का अर्थं मानते है तो अमृतपद से विरोध होता है, कारण कि अमृत ताप करनेवाला नहीं है, किन्तु ताप शमन करनेवाला है।

इसी प्रकार 'भूरिद' पद का भी विरोध होता है, कारण कि महाताप उत्पन्न करनेवाला वाक्य कहनेवाली गोपियों की स्तुति में विद्यमान हैं, इस प्रकार की स्तुति में गोपी का वाक्य ताप शान्त करने योग्य है, किन्तु ताप करनेवाला अयुक्त होता है और यहां काकु, विपरीतलक्षणा आदि को अङ्गीकार करना तो साहस ही है, इसलिये तापनाशक करनेवाला ही यहां अर्थ है।

यदि कहो कि शब्दरूप कथा किस प्रकार ताप निवृत्त करेगी।

तो इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि अमृत तापनिवर्त्तक प्रसिद्ध है, संसार के ताप से युक्त पुरुषों का जीवन जनक—उस ताप का निवर्तक अमृत होता है, भगवान् का वैराग्य गुण, अथवा ज्ञान गुण सर्व ताप का निवर्तक होता है।

भगवान् का धर्मरूप उसकी कृपा से जिस समय जीवों में आता है, उस समय ताप दूर कर देता है, कथा भी श्रवण द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर ताप दूर करती है।

ताप की निवृत्ति सांसारिक विषयों के नाश हो जाने पर होती है, इसलिये व्यवस्था से संसार में उत्पन्न हुए विषयों का नाश करनेवालों को गोपियां कहती हैं।

जो संस्कार के योग्य है, अर्थात् यह पदार्थ वाचारम्भण विकार रहित है, मिथ्या नहीं है, किन्तु ब्रह्मत्व प्रकारक ज्ञान विषय के योग्य हैं—ब्रह्मरूप है, इस प्रकार संस्कार योग्य वस्तु ज्ञान से नष्ट हो जाती है, अर्थात् उस वस्तु का ज्ञानी को वस्तुत्व से अनुभव नहीं होता है।

और जो वस्तु संस्कार के अयोग्य है, अर्थात् स्त्री आदि वस्तु ज्ञान का भी अपने संग से नाश कर देती है, उसका परित्याग करने से नाश होता है।

यहां प्रथम उदाहरण 'अप्रजत्वादितप्तका' का है 'तद्धैक आहुः ऋषयः कावषेयाः, किं प्रजया करिष्यामो' 'येषां नो एवायमात्मा' 'नायं लोकः' कावषेय ऋषि कहते हैं कि प्रजा-पुत्रादि सन्तान उत्पन्न करके हमको क्या करना है, जिन हम ज्ञानियों को यह आत्मा प्रत्यक्ष है, यह लोक नहीं है, कुछ पाठ भेद से यह श्रुति बृहदारण्यक अ. ४ ब्रा. ४ मन्त्र २२ में भी है।

इस प्रकार ज्ञान से पुत्र आदि ताप निवृत्त हो जाता है।

दूसरा उदाहरण—जुङ्गितोपगतादितप्त से बोध्य है।

जिस प्रकार स्मृति में कहा है कि 'चतस्रस्तु परित्याज्याः'।

चारों के त्याग का बोध करके बताया है। इसीसे स्मार्त लोग जो संस्कार करने में अशक्त हैं, वे परित्याग का बोध करते हैं. अतः ज्ञान तथा वैराग्य ताप नाश करनेवाले हैं।

यद्यपि ज्ञान-वैराग्य दोनों ही ताप नाशक हैं, तथापि 'तप्तजीवन' यहां दोनों में से एक का ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार आगे के विशेषण में भी दोनों में से किसी एक का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् 'तप्तजीवनं' इसमें ज्ञान का ग्रहण करते हों तो आगे 'कविभिरीडितं' इसमें वैराग्य का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार एक विशेषण में एक का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से भगवान् की कथा में ज्ञान वैराग्य की सिद्धि हुई।

यदि शंका करो कि समग्र ताप का नाश करना जलादिकों में भी विद्यमान है, फिर कथा को ही तापनाशकत्व क्यों बतलाते हो ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि 'कविभिरीडितम्' कवि—सभी शब्दार्थ रसिक ज्ञानियों ने कथामृत कहा है, अर्थात् कथायें ज्ञान धर्म, तथा वैराग्य धर्म का वर्णन किया है।

यदि कहो कि कथा के विषय में नहीं कहा है।

तब इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि भगवान् का कथामृत 'कल्मषापहम्' कल्मष–पाप को दूर करनेवाला है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरितः' यह वाक्य अग्निपुराण आदि में है, इसमें कहीं पर 'इतीरिणा' इस प्रकार पाठ है, उक्त श्लोक में 'वीर्यस्य' इसके स्थान में 'धर्मस्य' इस प्रकार भी पाठ है, इसलिये 'कल्मषापहं' इससे कथा में धर्माख्य धर्म भी सिद्ध होता है। कारण कि धर्म पापनाशक प्रसिद्ध है।

'वीर्यस्य' इस पाठ में 'कल्मषापहं' इस विषण से वीर्य का भी ग्रहण करना चाहिये।

अलौकिक वस्तु का साधन करने वाला भगवान् का वीर्य महान् और धर्मरूप है, अर्थात् धर्म तथा वीर्य दोनों एक हैं, जिसमें धर्म रहता है, वह तो फिर पाप नाश करने वाला हो जाता है, तथा अलौकिक वस्तु सिद्ध करने वाला हो जाता है।

भगवान् की कथा भी पाप नाश करने वाली, तथा अलौकिक कार्य करने वाली होती है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

यदि शंका करो कि प्रायश्चित्त आदि से भी समग्र पाप दूर हो जाते हैं, तो फिर भगवान् की कथा में विशेषता क्या है।

इस शंका के दूर करने के लिये गोपियां कहती हैं कि 'श्रवणमङ्गलम्'।

प्रायश्चित्त में गायका गोबर आदि लेपन तथा उपवास आदि किया जाता है, इसलिये स्वरूप से भी अमङ्गल है, और घोरात्मक होने से श्रवण करने में भी अमङ्गल है।

भगवान् की कथा का तो श्रवण उदारचरित है, अर्थात् इसमें भगवान् के उदार चरित्रों का वर्णन है, भगवान् की कथा का श्रवण करने से आनन्द उत्पन्न होता है, यह बात अनुभव सिद्ध है, इसलिये कथा का श्रवण मङ्गल है, उक्त विशेषण से कीर्ति–यश तुल्यता भगवान् की कथा को निरूपण की है।

यदि शंका करो कि पुत्र जन्म आदि श्रवण करने से भी आनन्द उत्पन्न होता है, तथा पुत्र पितृ ऋण से भी मुक्त करता है, अतः कुछ धर्म की समानता से पुत्र जन्म श्रवण मङ्गल है, तो फिर कथा में क्या विशेषता हुई। इस शंका का निवारण गोपियां करती हैं कि (श्रीमत्) पुत्र जन्म आदि से धन का व्यय—खर्च होता है, धन आता नहीं है। किन्तु कथामृत तो लक्ष्मी जी को भी अपेक्षित है, इस लिये लक्ष्मीयुक्त है।

कथामृत से श्रवण करने वाले तथा कहने वाले को धन की सिद्धि होती है।

यदि शंका करो कि राज्य प्राप्ति के श्रवण से भी लक्ष्मी जी की सिद्धि होती है, तो फिर कथा में विशेषता क्या होगी।

इस शंका के उत्तर में गोपियां कहती हैं कि (आततम्) भगवान् का कथामृत आ—सर्वत्र ततम्-व्याप्त है, और राज्य आदि तो परिच्छिन्न है, अर्थात् अमुक देश में ही सीमित होता है, भगवान् का ऐश्वर्य तो परिच्छिन्न नहीं है, सर्व के भीतर

बाहर सर्वथा व्याप्त है, उसी प्रकार कथामृत फिर सर्व लोकों को व्याप्त करके रहता है, अपनी सामर्थ्य सर्वत्र ही संपादन करता है।

इस प्रकार 'श्रीमत्' विशेषण से 'श्री' का तथा 'आततं' इस विशेषण से ऐश्वर्य का निरूपण किया है।

इस प्रकार भगवान् की कथा में छै गण हैं भगवत्कथा भगवान् के तुल्य है, यह सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादन किया है। कारण कि यह सिद्धान्त युक्त भी है, श्रुति में 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस प्रकार नाम और रूप की तुल्यता निरूपण की हैं, इसी से 'आच्छिद्य कीर्ति सुश्लोक्यां वितत्य' इस प्रकार कह कर 'तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः' इस कीर्ति से मनुष्य तम को तर जायेंगे, इस बात का विचार कर भगवान् अपनी कीर्ति का विस्तार करके आप अपने धाम को पधारे' इससे भगवान् ने अपनी कीर्ति में अपना भार स्थापित कर दिया, इस प्रकार भी एकादश स्कन्ध में कहा है। और 'कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह। कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः' इस प्रकार नामात्मक भागवत प्रथम स्कंध में कृष्णतुल्यता निरूपण की है, इसलिये गोपियां कहती हैं कि स्वरूप से तथा धर्म से आपके सदृश आप की कथा है।

इस आपकी कथा से ही हमारा जीवन है, स्वतः नहीं है, अर्थात् अपने आप प्रयत्न से जीवन नहीं है।

इस प्रकार गोपियों के कथन से भगवान् की कथा का उत्कर्ष-श्रेष्ठता का भी वर्णन किया गया है।

गोपियां कहती हैं कि आप कभी हमको मारते भी हो, किन्तु कथामृत तो उस समय में भी हमको जिलाता ही है।

भगवान् के समय में भी आपकी कथा हमको जिलाती है, इस प्रकार गोपियों के कथन से भगवान् की अपेक्षा भी भगवान् की कथा को उत्तम सा बतलाई है, परन्तु भगवान् में इतनी बात विशेष है कि भगवान् रसदान करने में स्वतन्त्र हैं, और कथामृत परतन्त्र है, कारण कि कथामृत पान करने में वक्ता की आवश्यकता रहती है। अर्थात् कथामृत पान सहाय सङ्गसापेक्ष है।

जिस समय ब्रह्मादि देवता आपकी प्रार्थना करते हैं, उस समय आप भूमि में अवतार लेकर पधारते हो, और पधार करके भी तिरोहित हो जाते हो, किन्तु आपकी कथा तो यहां आकर कभी तिरोहित नहीं होती है, इसी से इस प्रकार का आपका कथामृत जो पृथिवी में गान करते हैं, वेही 'भूरिदाः' बहुत अर्थ के देने वाले हैं।

'ये—अर्थात् जो प्रसिद्ध व्यासादिक हैं वे बहुत देने वाले, एवं केवल भगवद्रूप अथवा जन्म आदि दोष रहित हैं, 'भूरिदाश्च ते अजनाश्च' इस प्रकार समस्त एक पद का अर्थ है।

यद्यपि भगवान् का स्वरूप और कथा तुल्य है. तथापि द्रवीभूत कथामृत केवल मरण समय में, मरणनिवर्तक ही है, किन्तु घनीभूत रस की तरह एकत्र मिल कर—अर्थात् घनीभूत होकर रस उत्पन्न नहीं करता है, अर्थात् आपका स्वरूप घनीभूत रस है, और आपकी कथा द्रवीभूत रस है, इस प्रकार द्रवीभूतरस और घनीभूत रस में जितना अन्तर है, उतना आप, आप की कथा में और आप में विशेष है, यदि आप की कथा से आप में विशेषता न होती तो फिर हमसब आपकी कथा के लिये ही प्रयत्न करतीं, आपके लिये नहीं करतीं।

गोपियों के उक्त विचारपूर्वक कथन से, भगवान् की कथा से भगवान् का स्वरूप उत्तम है, इस प्रकार निश्चय हुआ है।

कथा का उपयोग तो विरह में जब मरण उपस्थित हो जाता है, तब मरणनिवृत्त करने के लिये ही होता है. इसीलिये भगवान् के तुल्य कथा की स्तुति की जाती है। इसी कारण से भगवान् की कथा कहने वाले मुनियों ने लोकों के लिये बहुत दिया है, कारण कि कथावश से आपके विरह में भी हम सब गोपियों का जीवन हो रहा है।

उक्त कथन से यहां व्यङ्ग्य द्वारा यह भी सूचित होता है कि अन्य गोपियों के द्वारा कही कथा को जीवन सम्पादकत्व है, इस प्रकार उक्त वचन राजस सात्विकी गोपी ने कहा है ॥ ९ ॥

(सुबो०) तामस्याः वचनमाह प्रहसितमिति ।

अब राजस तामसी गोपी का वचन शुकदेव जी कहते हैं।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

पदपदार्थ—(हे प्रिय) हे प्यारे (ते) आपका (प्रहसितं) अत्यन्त हास्य (प्रेमवीक्षितं) प्रेम से देखना (विहरणं च) वेणुवादन आदि क्रिया करते हुए त्रिभङ्गललित चाल से व्रज में आना (ध्यानमङ्गलम्) ध्यान ही मङ्गल (याः) और जो (हृदिस्पृशः) हृदयगामिनी—हृदय का स्पर्श करनेवाली (रहसि) एकान्त में (संविदः) ज्ञानरूप भगवान् की वाणियां हैं, वे सर्व (हे कुहक) हे कपटी (नः) हमारे (मनः) मन को (हि) निश्चय (क्षोभयन्ति) क्षोभ करती हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ— हे प्रिय आपका अत्यन्त हास्य, प्रेम से देखना, और वेणुवादन आदि क्रिया करते हुए त्रिभङ्गललित चाल से व्रज में आना तथा ध्यान मङ्गल, और जो हृदय स्पर्श करनेवाले एकान्त में वाक्य हैं, ये सब हे कपटी हमारे मन को क्षोभ करते हैं ॥ १० ॥

(सुबो०) यद्यपि कथया स्थातुं शक्यते, यदि त्वदीयैर्धर्मैः क्षोभो नोत्पादितः स्यात्। यथा भगवति षड्गुणाः सन्ति, तथा षट् तथा व्यामोहका अपि गुणाः सन्ति। अन्यथा कथयैव चरितार्थता स्यात। तदर्थं भगवान मायया कुहकलीलामपि करोतीति स्वस्वभावदोषात् भगवति तथा स्फूर्त्तिरिति। यथा ज्वरितस्य अन्ने विरसताप्रतीतिः। अत आह। तव प्रहसितादिकं नो मनः क्षोभयतीति। प्रकर्षेण हसितम् स्वभावत एव खिन्ना तां त्यक्त्वा अन्यया सह स्थित इति। ततश्चेत् समागत्य प्रकर्षेण हसति, सुतरां क्षोभं प्राप्नोति। प्रियेति सम्बोधनात् तव सम्बन्धोऽपि स्मृतः क्षोभजनको जायते। अत एव यासां न सम्बन्धः, तासां न क्षोभः। किञ्च, तव यत्प्रेमवीक्षितं प्रेम्णा वीक्षितं तदपि क्षोभयति। स्मृतं सत् अन्यविषयकं वा विश्वासजनकत्वाद्वा अन्तः कपटरूपमिति क्षोभजनकम्। आशाजनकम्। आशा अन्यथा कार्ये विसंवादो न स्यात्। मनस उत्तोलकं वा। आशाजनकम्। आशा-

रसो भगवदीय आकाराद्बहिः स्थाप्यत इति विशेषेण हरणं यस्मादिति त्रिभङ्गललितादिकं भवति । तत्पूर्वमस्माभिर्ध्यातमिति ध्यानं एव मङ्गलं त्वल्लक्षणं शुभफलं प्रयच्छतीति । तदपीदानीं क्षोभजनकम् , तिरोहितत्वात् । ते इति सर्वत्र सम्बन्धः । अन्यन्माययापि करोतीति मुख्यतया अत्रोक्तिः । एवं रूपसम्बन्धे चतुष्टयं क्षोभकमुक्तम् । नामसम्बन्धि द्वयमाह रहसि संविद इति । या हृदिस्पृश इति । रहसि एकान्ते संविदो ज्ञानरूपाः भगवद्वाचः । ज्ञानान्येव वा शास्त्रजनितानि बन्धाद्यभिज्ञारूपाणि या वाचो हृदिस्पृशः हृदयगामिन्यो भवन्ति । अस्मदनुगुणा एव बन्धसंविदो वा । न तु केवलं नायकानुगुणाः । अत एवमेते सुखहेतवोपि, भवान् वञ्चयति चेत्, तदा क्षोभं जनयन्ति । अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध इत्याह हीति ॥ १० ॥

यद्यपि आपकी कथा से हम सब जी सकती हैं, तथापि जो आप के धर्म क्षोभ उत्पन्न नहीं करें तो हम कथा से जी सकती हैं ।

जिस प्रकार भगवान् में पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान् में मोह करने वाले भी छै गुण हैं, नहीं तो कथा से ही चरितार्थता—हमारा कार्य सिद्ध हो जाता ।

कथा में भी हमारी निष्ठा मन में क्षोभ के कारण यथावत् नहीं रहती है, यदि कहो कि भगवान् में मोह करने वाले छै गुण हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

इसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि मोह करने के लिये भगवान् माया से कपट लीला को भी करते हैं, अतः मोह करनेवाली कपट लीला ही प्रमाण है ।

यदि कहो कि भगवान् में इस प्रकार का दोष आरोप करना अनुचित है । इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि भगवान् कपट लीला नहीं करते हैं, तथापि अपने स्वभावदोषसे जीव को भगवान् में कपट लीला की स्फूर्त्ति होती है, जिस प्रकार ज्वर वाले मनुष्य को अन्न में विरसता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार गोपियों को अपने स्वभाव दोष से भगवान् कपटी लगते हैं, वास्तव में भगवान् कपटी नहीं हैं, अपने स्वभाव दोष से भगवान् के कपटी लगने से ही गोपियां कहती हैं कि आपका हास्य आदि हमारे मन को क्षोभ उत्पन्न करता है, (प्रहसितं) अत्यन्त आपका हंसना, इत्यादि कहनेवाली गोपियां अपने स्वभाव से ही दुःख–खेद पा रही हैं कि हमारा त्याग कर भगवान् दूसरी गोपी के साथ स्थित हैं ।

यदि वहां से आकर के भगवान् अत्यन्त हँसते हैं, नो हम निरन्तर क्षोभ को प्राप्त होती हैं ।

'हे प्रिय' सम्बोधन से गोपियां यह सूचित करती हैं कि आपका सम्बन्ध भी स्मरण करते पर क्षोभ उत्पन्न करनेवाला होता है, इसी से यह भी सूचन कर दिया है कि जिन गोपियों का भगवान् से सम्बन्ध नहीं हुआ, उनको क्षोभ नहीं होता है ।

अब गोपियां क्षोभजनक भगवान् का अन्य गुण भी कहती हैं (प्रेमवीक्षणं) जो आपका प्रेम से देखना है, वह भी हमारे मनको क्षोभ उत्पन्न करता है ।

अब गोपियाँ भगवान् के प्रेम से वीक्षण को तीन प्रकार से क्षोभ उत्पन्न करने वाला कहती हैं ।

१. 'स्मृतं सत्' संयोगदशा में आप हमको प्रेम से देखते हो, वियोगदशा में प्रेमवीक्षण का स्मरण क्षोभ उत्पन्न करता है ।

२. 'अन्यविषयकं' जब आप अन्य नायिका को प्रेम से देखते हो तो वह आप का देखना हमको क्षोभजनक होता है ।

३. अथवा आप हम को जब प्रेम से देखते हो, तब हमको विश्वास उत्पन्न होता है, किन्तु भीतर से कपट रूप देखना है, इसलिये क्षोभ उत्पन्न करता है । नहीं तो–यदि क्षोभ उत्पन्न न हो तो कार्य में विसंवाद विरोध नहीं हो ।

अथवा आपका प्रेम से देखना हमारे मन की परीक्षा करनेवाला है, जबकि हमारा प्रेम उत्तमोत्तमता से प्रसिद्ध है, फिर हमारे प्रेम की परीक्षा करने से मन को क्षोभ ही होता है ।

अथवा आपका प्रेम से देखना हमको आशा उत्पन्न करनेवाला है, आशा से श्रम हो रहा है और श्रम से क्षोभ उत्पन्न हो रहा है ।

अब गोपियां भगवान् का अन्य मोहक गुण कहती हैं ।

(विहरणं) आपका विहरण भी क्षोभ उत्पन्न करता है । विहरण–अर्थात् वेणु वादन आदि क्रिया करते करते भगवान् का चलना ।

जिस समय भगवान् त्रिभंग ललित स्वरूप से व्रज में पधारते हैं, उस समय वेणुनाद द्वारा स्वामिनियों के भीतर स्थित भगवदीय रस को बाहर प्रकट करते हैं, नाद के श्रवण से गोपियों में पुलकावलि आदि हो जाती हैं, इस प्रकार भगवदीय रस वेणुनाद द्वारा बाहर प्रकट करते हो ।

भगवदीय रस का विशेष करके हरण-बाहर स्थापन जिस स्वरूप से उस प्रकार का स्वरूप त्रिभङ्ग ललित आदि होता है, वह हमारे मन को क्षोभ उत्पन्न करता है, इस प्रकार का आपके स्वरूप का पहले हमने ध्यान किया था, और इस प्रकार का ध्यान ही मङ्गल, स्वयं प्रभुरूप शुभफल को देता था, किन्तु इस समय वह आपका ध्यान क्षोभ उत्पन्न कर रहा है, कारण कि आपका ध्यान भीतर भी नहीं हो रहा है, तिरोहित है ।

गोपियों को इस समय भगवान् हमारे भीतर स्थित है, इस प्रकार का ज्ञान भी भगवान् नहीं करा रहे हैं, इसलिये गोपियाँ इस प्रकार से कह रही हैं ।

मूल श्लोक में 'ते' पद है. इसका सम्बन्ध प्रहसित आदि सभी में करना चाहिये, अर्थात् आपका प्रहसित, आपका वीक्षण, इस प्रकार ।

यदि शंका करो कि सर्वत्र ही जब ते पद का सम्बन्ध है तो प्रथम (प्रहसितं) इसके पास में ही ते शब्द का प्रयोग करना था, आगे क्यों किया ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अन्य सब माया से भी करते है, अतः मुख्यता से 'ते' पद का प्रयोग 'विहरणं, ध्यान मङ्गलं' इन दो पदों के साथ किया है ।

इस प्रकार भगवान् के रूप सम्बन्ध में, १. प्रहसित २. प्रेमवीक्षित, ३. विहरण ध्यान मङ्गल, और 'प्रिय' संबोधन से सूचित चार सम्बन्ध क्षोभ उत्पन्न करनेवाले कहे हैं, उक्त चौथा सम्बन्ध लेखकार ने कहा है ।

मूल के अनुसार प्रायः 'प्रहसित' 'प्रेमवीक्षित' 'विहरण' और 'ध्यान मङ्गल' इस प्रकार चार होते हैं ।

इस प्रकार भगवान् के रूप संबंधी चार पदार्थों का निरूपण करके गोपियां अब नाम संबंधी दो पदार्थों का वर्णन करती हैं कि 'रहसि संविदः' 'इति' 'या हृदिस्पृशः' इति ।

रहसि–एकान्त में संविदः-ज्ञानरूप भगवान् के वचन अथवा संविद–ज्ञान ही कामशास्त्र आदि में कहा बन्ध आदि अभिज्ञारूप, अर्थात् कामशास्त्रोक्त बंध आदि का ज्ञान कराने के वचन, इसमें भी भगवान् की वाणी 'हृदि स्पृशः' हृदय में प्रविष्ट होनेवाली होती है।

अथवा हमारे–गोपियों के अनुकूल ही बन्ध आदि का ज्ञान, केवल नायक के अनुकूल नहीं, इस प्रकार का ज्ञान संविद है, अतः इस प्रकार आपके पूर्वोक्त गुण सुख के हेतु होते हुए भी, जिस समय आप हमसे वञ्चन-कपट करते हो, उस समय पूर्वोक्त गुण क्षोभ उत्पन्न करते हैं, यह अर्थ सर्व के अनुभव सिद्ध है, इस बात को गोपियां 'हि' शब्द से कहती हैं ॥ १० ॥

(सुबो०) राजस्या वचनमाह चलसीति ।

अब शुकदेव जी राजस-राजसी गोपिका वचन कहते हैं।

चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(हे नाथ) हे स्वामी (यत्) जिस समय (व्रजात्) व्रज से (पशून्) पशुओं को (चारयन्) चराते हुए (चलसि) आप चलते हो उस समय चलने में (नलिनसुन्दरं) कमल की अपेक्षा भी कोमल (ते) आपका (पदम्) चरण (शिलतृणाङ्कुरैः) पत्थर तृण कुश आदि से अथवा शिलारूप तृण–कठिन तृणों के अङ्कुर अति कठोर तीक्ष्णों से (सीदति) क्लेश को प्राप्त होता है, (इति) इस कारण से (हे कान्त) हे पति (नः) हमारा (मनः) मन (कलिलतां) गहनता को, अर्थात् खेद को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे नाथ जिस समय आप व्रज से पशुओं को चराते हुए चलते हो, उस समय कमल की अपेक्षा भी कोमल आपके चरण पत्थर तृण कुश आदि के अंकुरों से पीड़ित होते हैं, इससे हे कान्त हमारा मन गहन विचार करता है, खेद को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

(सुबो०) अस्माकं तु स्नेहवशात् त्वद्विषयिका समीचीनेऽपि खेदबुद्धिर्जायते, यत् तत्र तु नास्मद्विषयिणी सत्यखेदेपि जायत इति न्यायविरोधमिवाह । यत् व्रजात्पशून् चारयन् चलसि । तत्र चलने नलिनापेक्षयापि सुन्दरं कोमलं, हे नाथ, ते पदं मार्गस्थितैः शिलतृणाङ्कुरैः, शिलाः पाषाणाः, तृणानि, अङ्कुराः दर्भादीनाम्, कठिन-तामसानि सात्त्विकानि राजसानि । अथवा शिलारूपं यत्तृणं शिलतृणं कठिनतृणम्, तस्याङ्कुरैः अतिपरुषतीक्ष्णैः सीदतीति क्लेशं प्राप्नोतीति, वस्तुतो न प्राप्नोत्येव, तथापि हे कान्त भर्तः मनः कलिलतां गच्छति । व्रजादिति प्रातरारभ्य खेदः सूचितः । चलनादेव च खेदः । अतः प्रथमतस्तदेवोक्तम् । वस्तुस्तु तव पदे अस्मत्स्थानं विहाय न गच्छतः तथापि भवानेव तथा चालयति । किञ्च, व्रजस्थिता गावः अरण्ये नीयन्ते, तासां चारणं न मार्गगमनेन भवति । अतः अमार्गेऽपि गन्तव्यम् । भूम्यादीनां अनुग्रहार्थं न पादुकाग्रहणम्, पाल्यानां चर्म च न परिधेयम् । अतो नलिनसुन्दरं पदमेव शिलतृणाङ्कुरैः सीदति । जले एव स्थातुं योग्यम् । जलपूर्णे वा नलिनादपि सुन्दरं चेत्, लक्ष्म्यामस्मासु वा स्थातुं योग्यम् । नाथेति सम्बोधनात बहव एवात्रार्थे नियोज्याः सन्ति, तथापि स्वयमेव गच्छसीति । वने हि त्रिविधा भूमिः, पर्वतरूपा अरण्यरूपा कच्छरूपा च । तत्र क्रमेणैकमेकत्र भवति, सर्वं वा सर्वत्र । अवसादः अशक्त्या एकत्र स्थितिः । तदा चिन्ता भवति । स्वयं गत्वा स्वहृदये स्थापनीयमिति । मनःकान्तेति च । तेन मनःस्थापितमपि न तिष्ठतीति ॥ ११ ॥

हम गोपियों को स्नेहवश से जिस समय आपको यथार्थ में खेद नहीं होता है, उस समय भी खेद बुद्धि होती है, और आपकी तो हमको यथार्थ में खेद होते हुए भी खेद बुद्धि नहीं होती है, इस प्रकार न्याय विरोध प्रकार को गोपियां कहती हैं कि जिस समय आप व्रज से पशुओं को चराते हुए चलते हो, उस समय आपके चलने में कमल की अपेक्षा से भी सुन्दर-कोमल हे नाथ आपका चरण मार्ग में स्थित (शिलतृणांकुरैः) शिला–पत्थर, तृण और दर्भ आदि के अंकुरों से कष्ट पाता है, उक्त तीनों क्रम से तामस सात्त्विक राजस हैं।

अथवा 'शिलतृणांकुरैः' इस पद का अन्य प्रकार से समास है, शिलारूप जो तृण, वह शिल-तृण-कठिनतृण उसके अंकुर अति परुष तीक्ष्ण, उनसे आपका चरण 'सीदति' क्लेश को प्राप्त होता है, इस कारण से हमारा मन खेद को प्राप्त होता है, वास्तव में तो आपको क्लेश होता ही नहीं है।

तथापि हे कान्त, हे भर्ता हमारा मन खिन्न होता है। 'व्रजात्' यह पद मूल में कहा है, इस पद से यह सूचित किया है कि प्रातः काल से लेकर ही हम को खेद होता है, और आपके चलने से ही खेद होता है, इसलिये श्लोक में प्रथम 'चलसि' इस पद से भगवान् का चलना कहा है।

भगवान् के चलने में पशु चराना हेतु कहा है, अतः भगवान् को तो पशुओं को चराना अभीष्ट है, और उसके लिये चलना भी अभीष्ट है, किन्तु भगवान् के चरणों को चलना अभीष्ट नहीं है, इस उक्त आशय से गोपियां कहती हैं कि, वास्तव में तो आपके चरण हमारे स्थान को छोड़ कर नहीं चलते हैं, तथापि आप ही अपने चरणों को हमारे स्थान से छुड़ाकर अन्य स्थान में चलाते हो, कारण कि आपके चरणों को हमारा स्थान ही अभीष्ट है, अतः आपको व्रज से चलने में चरणों को ही कष्ट होता है, आपको नहीं होता है, तो भी हमारा मन क्लेश को प्राप्त होता है।

अब आपके चरणों के दुःख का विचार करके भी हमारा मन खिन्न होता है, इस बात को गोपियां कहती हैं।

आप व्रज में स्थित गायों को वन में ले जाते हो, गायों का चराना सीधे मार्ग जाने से नहीं होता है, अतः अमार्ग में भी जाना पड़ता है, पृथिवी आदि के ऊपर अनुग्रह करने के लिये आप पादुका भी पहिनते नहीं हो, कारण कि चर्म परिधान का निषेध है, इसीलिये चर्ममयी पादुका आप नहीं पहिनते हैं, और लकड़ी की पादुकाओं को पहिनकर बहुत दूर तक चल नहीं सकते हैं, इस लिये लकड़ी की पादुकाओं का भी आपने ग्रहण नहीं किया है।

यदि शंका करो कि आवश्यक व्यवधान से भूमि के ऊपर अनुग्रह करने में बाध नहीं होता है, जिस प्रकार शीतल आदि करने के लिये अपेक्षित कुंकुम के व्यवधान से स्तनों के स्पर्श में बाधा नहीं होती है, उसी प्रकार भूमि पर अनुग्रह करने में किसी प्रकार का बाध नहीं होता

है । इस प्रकार पूर्व पक्ष से अरुचि होने के कारण पक्षान्तर कहते हैं कि 'पाल्यानां चर्म च न परिधेयम्' पालन करने योग्य पशुओं का चर्म नहीं पहिनना चाहिये ।

अर्थात् भूमि आदि के ऊपर अनुग्रह करने के लिये चरणों में चर्म नहीं पहिनना चाहिये ।

चर्म नहीं पहिनना चाहिये, और पाल्यों का चर्म नहीं पहिनना चाहिये, इस प्रकार चर्म के अपरिधान में—नहीं पहिनने में दो हेतु हैं, और काष्ठपादुकाओं के न पहिनने में तो एक ही हेतु है, 'पाल्यानां चर्म च न परिधेयम्' इसका भाव श्रीहरि राय जी लिखते हैं ।

यदि शंका करो कि भूमि आदि के ऊपर अनुग्रह करने के लिये जब भगवान् पादुकाओं का परिधान नहीं करते तो फिर चरणों में दुःख संपादन गोपियां क्यों करती हैं, यद्यपि भगवान् पादुकाओं को पहिनते हैं तब चरण और भूमि के मध्य में अन्तराल होता है, कारण बीच में व्यवधान होने से चरण का स्पर्श नहीं होता है, चरण का स्पर्श न होने से भूमि के ऊपर अनुग्रह भी सिद्ध नहीं होता है, तथापि व्यवधान होने पर भी अनुग्रह सिद्ध हो जाता है, कारण कि श्री कुंकुम लिप्त चरण का स्पर्श होने पर भी उस प्रकार के सुख का अनुभव होता है, फिर भगवान् इतना क्लेश क्यों पाते हैं, चरणों में क्लेश के अभाव के लिये तथा भूमि के ऊपर अनुग्रह करने के लिये चर्म आदि भगवान् क्यों नहीं पहिनते, हमारे हृदय की कठिनता को जानकर कुंकुम की तरह भगवान् को चर्म आदि धारण करना चाहिये ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'पाल्यानां चर्म चेति' गाय आदि सर्वभाव से रक्षा करने योग्य हैं, रक्षा जीवितों की ही घट सकती है, अतः उनके चर्म का परिधान करने से मृत्यु होने के कारण उनका पालन नहीं होगा, इसलिये उनका चर्म परिधान नहीं करना चाहिये, अन्य पशुओं का चर्म तो चरण सम्बन्ध होने के योग्य नहीं है, इसलिये उनके चर्म का अपरिधान ही है ।

दूसरी बात यह है कि चरण सम्बन्ध में भक्तिरस युक्त तृण भक्षण से परमानन्द उत्पन्न होता है, जब चरण सम्बन्ध नहीं होगा तब उतने अंश में पालन नहीं होगा, अतः पाल्यों का चर्म परिधान करना अनुचित है, यह भाव है, इसी से 'तृण चरानुगं' इसमें तृणचर पद गोपियों ने कहा है ॥१०॥२८॥११॥ श्री हरिराय चरण ॥

लेखकार कहते हैं कि व्रज के सभी जीव भगवान् के द्वारा पालन करने योग्य हैं, उनके चर्म पहिनने में जीवों के मारने की आज्ञा सी हो जाती है, इसलिये यहां चर्म परिधान का ही निषेध किया है, काष्ठमयी पादुकाओं का नहीं, इसीसे भगवान् कभी दारुमयी पादुका धारण भी करते हैं, इसलिये महन्सेवित स्वरूप श्री मदन मोहन जी के चरणों में पादुका विराजमान हैं ।

भूमि पर अनुग्रह तो आवश्यक व्यवधान में भी हो जाता है, इस बात को पहले कह चुके हैं, अब गोपियां कहती हैं कि आपका कमल से भी सुन्दर चरण ही शिल तृण कुश आदि के अंकुरों से पीडित होता है ।

कमल सरोवर आदि रूप जल में उत्पन्न होता है, इसलिये अपना उत्पत्ति स्थान जल में ही रहने योग्य है, गोपियों के इस प्रकार कहने से पद कमल के चालन में अयोग्यता सूचन की है, अर्थात् जिस प्रकार कमल अपना स्थान जल में रहने के योग्य है, उसी प्रकार आपका चरण कमल अपना स्थान व्रज में ही स्थापन करने योग्य है, कमल निकले हुये जल में स्थापन किया उस प्रकार शोभित नहीं होता है ।

और यदि आप अपने पदकमल का चालन ही करते हो, तो भी नीरस में स्थापन करना उचित नहीं है, इस बात को कहने के लिये गोपियां पक्षान्तर कहती हैं कि 'जल पूर्णवा' ।

कमल को अपने स्थान से हटाकर जलपूर्ण घटादि में अथवा हरी घास में अथवा जल से पूर्ण सरोवर में रखना चाहिये, कारण कि सरोज है ।

इसका भाव यह है कि कमल जल में उत्पन्न होता है, इसलिये उत्पत्ति स्थान सरोवर आदि के जल में ही स्थिति करने योग्य है, आपका चरण कमल भी चालन करने योग्य नहीं है, व्रज में ही स्थिति करने योग्य है ।

कदाचित् चरणकमल का चालन करे तो विना जल के स्थान में उसका स्थापन करना योग्य नहीं हैं, अतः जलपूर्ण घट आदि पात्र में उसका स्थापन करना योग्य है, जिस प्रकार सरोवर आदि उत्पत्तिस्थल से उखाड़कर कमल को जलपूर्ण पात्र घट आदि में रखते हैं, उसी प्रकार व्रजरूपी स्थान से चलाकर आपका चरणकमल रस भरे हमारे स्तनरूपी कलशों में स्थिति करने योग्य है ।

अब नलिन पद का दूसरा अर्थ कहते हैं ।

कमल से भी सुन्दर यदि आपका चरण है, तो लक्ष्मी में अथवा हम गोपियों में स्थिति करने योग्य है, यहां पर जल स्थानीय लक्ष्मी है, कारण कि जल कमल का स्थान है, और लक्ष्मी स्वकीया है, पात्र स्थानीय हम गोपियां हैं ।

अपने उत्पत्ति स्थान से निकाला हुआ कमलपात्र हम गोपियों में स्थापन करना चाहिये । हम परकीया हैं । यह भाव है ।

हे नाथ, इस संबोधन से यह सूचन किया है कि यद्यपि गाय आदि के चराने के लिये आपके बहुत से नौकर हैं, तथापि आप स्वयं ही चराने के लिये जाते हो ।

वन में तीन प्रकार की भूमि है, १ पर्वत रूप २ अरण्य रूप ३ कच्छ रूप—गीली कीचड़वाली, इन तीनों प्रकार की भूमि में क्रम से एक में एक प्रकार की है, अर्थात् पर्वतरूपी में पाषाण, अरण्यरूपी में तृण, और कच्छरूपी में अंकुर-कुश आदि हैं ।

अथवा तीनों प्रकार की भूमि में पाषाण आदि तीनों हैं ।

अब 'सीदति' पद का अर्थ कहते हैं 'अवसादः' चलने का सामर्थ्य न होने के कारण एक स्थान में बैठना, अर्थात् भगवान् के चरण कमलों में जब कांटे आदि लग जाते हैं, तब चलने की अशक्ति से कुछ काल बैठ जाते हैं, उस समय हमको विचार होता है कि हम स्वयं उस स्थान पर जाकर आपका चरण कमल अपने हृदय में स्थापन कर लें ।

इस प्रकार गोपियों को भाव के अनुभाव से वन लीला का भी ज्ञान है, अर्थात् जिस लीला को भगवान् वन में करते हैं, उसका ज्ञान है ।

मूल में 'मनःकान्त' इस प्रकार का समस्त पद भी हो सकता है, इसका अर्थ मनका कान्त है, आप हमारे मन के पति हो, इसलिये हम मन को सावधान भी करती हैं, तो भी सावधान नहीं होता है, अर्थात् ठहरता ही नहीं है । हम अपने मन को बहुत रोकती हैं, परन्तु रुकता नहीं है, उक्त अर्थ में 'मनः' पद की आवृत्ति जाननी चाहिये ॥ ११ ॥

(सुबो०) एवं सप्तविधा अनन्यपूर्वा निरूपिताः । चतस्रश्च ताः । अतः परं क्रमेण षट् ता एव निरूप्यन्ते । तत्र प्रथमं राजसतामस्या वचनम् । ता हि बहिर्गत्वा द्रष्टुमशक्ताः । अतो यदा संध्यायां भगवानायाति, तदा भगवन्तं दृष्ट्वा मनसि कामो भवति । ततो बन्धप्रार्थना अधरामृतप्रार्थना च रजसा सत्त्वेन च भविष्यतः । अनन्यपूर्वाणां तु नित्य एव कामः । दिनपरिक्षये इति ।

इस प्रकार पांचवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक—सात श्लोक में सात प्रकार की अनन्य पूर्वा—कुमारिका निरूपण की हैं, सात्त्विक सात्त्विकी, सात्त्विक तामसी, सात्त्विक राजसी, निर्गुण, राजस सात्त्विकी, राजस तामसी, राजस राजसी, इस प्रकार सप्तनिरूपण की हैं, और प्रथम के चार श्लोकों में चार प्रकार की अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा निरूपण की हैं, प्रथम चार श्लोक से कहीं अन्यपूर्वा सात्त्विक राजसी, सात्त्विक तामसी, सात्त्विक सात्त्विकी और निर्गुण हैं।

अब आगे बारह से सत्रह श्लोक, अर्थात् छः श्लोकों में क्रम से छः अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा गोपियों का निरूपण है, इसमें प्रथम-बारहवें श्लोक में राजस तामसी अन्यपूर्वा का वचन है।

अन्यपूर्वा बाहर जाकर भगवान् का दर्शन नहीं कर सकती है, इसलिये जब संध्या समय भगवान् व्रज में आते हैं, तब भगवान् का दर्शन करके मन में कामभाव होता है, अर्थात् अन्यपूर्वा पति आदि के अनुरोध से दिन में वन नहीं जा सकती हैं, इसलिये दिन में कुछ प्रयोजन न होने से इनमें कामभाव का सम्पादन नहीं है, किन्तु इनको गुणगान से ही रमण है. रात्रि में इनके साथ भगवान् का रमण होता है, इसलिये संध्या समय में इनके उपयोगी कामभाव का संपादन भगवान् करते हैं, और अनन्यपूर्वा...कुमारिकाओं के साथ दिन में भी भगवान् के रमण का संभव होता है, इसलिये कुमारिकाओं के, उपयोगी निन्य ही काम है।

अनन्यपूर्वा अग्निकुमारों की तरह अन्य गोपियां भी उसी प्रकार की हैं—अर्थात् नित्य कामवाली हैं। इसलिये कुमारिकाओं के साथ रात्रि में भी विवाहित न्याय से रमण है, इसलिये पूर्वोक्त से विरोध नहीं है. यहां सत्त्व आदि भेद समयभेद से एक में भी बहुत प्रकार से हैं।

फिर दो श्लोकों में प्रार्थना एक गोपी कृत भी सम्भव हो सकती, है, इस आशय से कहते हैं कि, 'ततः' अनन्तर अनन्य पूर्वा गोपी कामदान लीला का स्मरण करती है, और उससे उद्बुद्धजागृत काम होता है, कारण कि अनन्य पूर्वा गोपियों में नित्य काम है, इसलिये काम दान कथन के बिना ही 'व्रजजनार्तिहन्' 'प्रणतदेहिनां' इन ६-७-दो श्लोकों में रजोगुणभाव से बन्ध प्रार्थना और 'मधुरया गिरा' इस ८ वें श्लोक में सतोगुण भाव से अधरामृत की प्रार्थना की है।

कोई कहते हैं कि 'मधुरया गिरा' इसमें निर्गुण है।

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥

पदपदार्थ—(दिनपरिक्षये) संध्या समय में (नीलकुन्तलैः) काले केशों से (आवृतम्) ढका (धनरजस्वलम्) गायों की रज से व्याप्त (वनरुहाननं) कमल सदृश मुख को (बिभ्रत्) धारण करते हुए (मुहुः) बारंबार (दर्शयन्) दिखाते हुए (हे वीर) हे शूर आप (नः) हमारे (मनसि) मन में (स्मरं) काम को (यच्छसि) देते हो ॥१२॥

भावार्थ—हे वीर संध्या समय में नीलकेशों से ढका तथा गायों की रज से व्याप्त कमल की तरह मुख को धारण करते हुए आप इस प्रकार के मुख का बार-बार दर्शन कराकर हमारे मन में कामभाव को देते हो ॥ १२ ॥

(सुबो०) दिनपरिक्षये संध्याकाले। क्षयोक्त्या दिने द्वेष्यत्वं ज्ञाप्यते। रजोगुणस्यायं समयः, कामस्य च कालः। नीलकुन्तला भ्रमरा इव रसबोधकाः। ये हि मुखकमललावण्यामृतं पिबन्ति, ते उद्बोधका भवन्ति। अतस्तैरावृतं वनरुहवत् कमलवत् आननं बिभ्रत्, हे वीर, नःमनसि स्मरं यच्छसि। सन्ध्यायां

नीलवर्णैरावृतत्वे तत्प्रभाव्याप्तत्वं भवतीति तदुक्त्या, वनरुहोक्त्या च कुवलयाभत्वं ज्ञाप्यते। तथा च प्रियामुखेन्दुदर्शनेनोत्तरोत्तरमधिकविकासवत्त्वमितः पूर्वंमताद्दशत्वं च ज्ञाप्यते। तेन प्रियस्य सर्वास्वासक्तिः सूचिता भवति। अत एव जलपदं विहाय वनपदमुक्तम्। तेन वने यावस्था तां ज्ञापयितुं तान् धर्मान् बिभ्रदेवाननं दर्शयतीति ध्वन्यते। धनेन गोभिः रजस्वलम्। मुहुश्च प्रदर्शयन्। मध्येमार्गं गच्छन् उभयतः स्थिता गोपीः पर्यायेण पश्यति। अतो मुहुः प्रदर्शनम्। अग्रे गच्छन् पुनः पुनर्व्याधुट्य पश्यतीति वा तथा। तादृग्दर्शनं स्वापेक्षाज्ञापकमिति स्मरजनकम्। निरन्तरदर्शनेन तत्रैव रसास्वादनमिति न स्मरोत्पत्त्यवसरः स्यात्। अतो वारं वारं प्रदर्शनं स्मराग्नेः संधुक्षणमिव भवति। तादृशं कृत्वा तत्पूरणार्थं तन्निराकरणार्थं वा युद्धमवश्यं कर्तव्यम्। श्रमनिवृत्तिश्चातत्सूचयन्ति वीरेति। धनेन रजस्वलं च श्रमसूचकं भवति। अनोऽत्रैव समागमस्माभिरेव। वनरुहमिति। वन एवैतत्सर्वथा भोग्यम्। बिभ्रदिति बलात्कारेण तानम्। अनेन गृहे रतिं दास्यामीति पक्षो व्यावर्तितः। यदि मुखसंमार्जनं कृत्वा समागच्छेत्, तदा प्रसन्नमुखमेवावस्थां स्थापयति। यदि मुखसंमार्जनं... न तु क्रोधः। यथा दर्शनात् ज्ञानं वा भवेत्। धनसम्बन्धि रज इति काम एव, न तु क्रोधः। यथा पात्रं धृत्वा तत्स्थितमन्नं भोगार्थं दीयते, तथा मुखं धृत्वा तत्रत्यो रसः कामात्मा मनसि स्थाप्यत इति मुखधारणस्य हेतुत्वम्। अतो भोगार्थं दत्त इति भोगः करणीयः। अयं काम आगन्तुक इति नास्यान्येन पूरणं भवति ॥ १२ ॥

'दिनपरिक्षये' इस पद में दिन का क्षय कहा है, इससे दिन के ऊपर गोपियों ने अपना द्वेषभाव सूचन किया है।

इस प्रकार कहनेवाली गोपी राजस तामसी है, कारण कि संध्या समय रजोगुण का है, इस समय में सब लोग गायों के दोहन आदि करने में व्यग्र रहते हैं, यह काल तमरूप काम का उद्बोधक है, इसलिये यह काल राजस तामस है, इस समय की लीला वर्णन करने से इस गोपी को भी राजस तामसीत्व है।

भगवान् के नीलकेश भ्रमरों की तरह रसका बोध करनेवाले हैं, और जो भगवान् के मुखकमल में लावण्यरूपी अमृत है, उसका पान करते हैं, ये रसको जागृत करनेवाले होते हैं, अतः नीलकेशों से आवृत-ढका कमलसदृश मुख को धारण करते हुए आप हे वीर हमारे मन में कामदान करते हो।

अब इस पर प्रभुचरण का स्वतन्त्र लेख है, उसकी भाषा कहते हैं सन्ध्या समय में भगवान् का मुख नीलवर्णवाले केशों से आवृत कहा है, अतः नील केशों की प्रभा से मुख भगवान् वानू का मुख नीलवर्णवाले केशों से आवृत कहा है, अतः नील केशों की प्रभा से मुख भगवान् का व्याप्त होता है, इसलिये आपका अधर, तथा नेत्रों में लालिमा की प्रतीति नहीं होती है, इस प्रकार वर्णन से तथा वनरुह के वर्णन से भगवान के मुख की शोभा कुवलय-रात्रि विकासी कमल के सदृश ज्ञापन की है, जिस प्रकार रात्रिविकासी कमल चन्द्रदर्शन से उत्तरोत्तर अधिक विकसित होता है, उसी प्रकार प्रिय गोपियों के मुखरूपी चन्द्रदर्शन से भगवान् का मुखकमल उत्तरोत्तर

अधिक विकसित होता है, अब से पूर्व जबतक गोपियों के चन्द्रमुख का दर्शन नहीं होता है, तबतक विकसित नहीं होता है, इस प्रकार कहने से भगवान की सर्व गोपियों में आसक्तिसूचन की है, इसी आसक्ति के कारण मूल में जल पद को छोड़कर वन पद कहा है, 'अर्थात् 'जलरुहाननं' न कहकर 'वनरुहाननं' कहा है । वन में से भगवान व्रज में पधार करके भी गोपियों में आसक्ति होने के कारण से रमण करने के लिये फिर वन में प्रवेश करेंगे अर्थात् भगवान वन में ही रहते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

वन में रहने के कारण वन में कुवलय की जिस प्रकार की अवस्था होती है, उस अवस्था का ज्ञान कराने के लिये भगवान कुवलय—रात्रिविकासी कमल के धर्मों को धारण करनेवाले मुख का दर्शन कराते हैं, यह ध्वनि है ।

'धनेन' अर्थात् गोधन—गायों के चरण रज से भगवान का मुख व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार के मुख का दर्शन भगवान बारंबार कराते हैं ।

मार्ग के मध्य भाग में भगवान पधारते हैं, और दोनों तरफ खड़ी गोपियों को पर्याय से-कभी इधर की तरफ कभी उधर की तरफ, इस प्रकार दोनों ओर क्रम से देखते हैं, इसलिये बारंबार मुख का प्रदर्शन कराना कहा है ।

अथवा भगवान आगे गमन करते-करते पुनः-पुनः बारंवार पीछे की तरफ मुख फेरकर गोपियों की तरफ देखते हैं । अतः अपना मुख बारंबार दिखाते हैं ।

इस प्रकार बारंबार अपना मुख दिखाकर भगवान अपनी गोपियों के प्रति अपेक्षा-इच्छा ज्ञापन करते हैं, इस इच्छा से गोपियों में काम उत्पन्न होता है ।

यदि भगवान् गोपियों को निरन्तर अपना मुख दिखायें तो मुखदर्शन से गोपियों को उसी स्थान में रसका आस्वादन हो जाये, तो फिर कामोत्पत्ति का अवसर नहीं रहे, अतः बारंबार मुख का प्रदर्शन कामाग्नि में फूंक मारने की तरह होता है ।

अपना बारंबार मुख दिखाकर भगवान् फूंक से गोपियों का कामाग्नि वर्धन करके, उस कामाग्नि को पूरण करने के लिये अथवा उसको नष्ट करने के लिये भगवान् को युद्ध अवश्य करना चाहिये, इस बात को गोपियाँ सूचन करती हैं । आगे संबोधन से, 'हे वीर' हे शूर ।

गायों के खुरों की रज से व्याप्त आपका धूसरमुख श्रम सूचन कर रहा है, आपके श्रम की निवृत्ति हमारे-गोपियों के द्वारा ही होगी, अन्य से नहीं होगी ।

भगवान् का मुख वनरुह—कमल है, अतः वन में ही आपका मुख कमल सर्वथा भोग्य है, इसीसे आप वन में ही पधारे हो ।

इस प्रकार गोपियों के कहने से यदि भगवान् यह कहें कि गोपियो मैं घर में रतिदान करूंगा, यहां पर नहीं, तब उक्त पक्ष का निरास कर दिया है ।

मूल में 'बिभ्रत्' पद कहा है, यह इस बात को सूचन करता है कि बलात्कार से इस प्रकार की अवस्था को,—अर्थात् अलकों से आवृत गायों की रज से व्याप्त मुख को भगवान् धारण करते हैं ।

यदि भगवान् अपने मुख को वन में ही धोकर आयें तो भगवान् का प्रसन्न मुख देखकर गोपियों को ज्ञान उत्पन्न हो जाये । अर्थात् भगवान का श्री मुख भक्त्यात्मक है,—भक्तिरूप है, इसलिये स्नेह रस का अनुभव हो जाये, किन्तु इस समय भगवान का मुख गायों की रज से व्याप्त है, इसलिये स्नेह रस का अनुभव नहीं होता है, काम ही उत्पन्न होता है । उसी प्रकार क्रोध भी नहीं होता है, किन्तु काम ही उत्पन्न होता है ।

जिस प्रकार पात्र में अन्न धरके, उसमें धरा अन्न भोग के लिये दिया जाता है, उसी प्रकार पात्ररूप श्रीमुख में धरके, उसमें धरा रस कामात्मा मन में स्थापित किया जाता है, यह गोपियों ने भगवान् के मुख धारण में हेतु कहा है अर्थात् हमारे लिये कामदान करने के लिये आप इस प्रकार का श्रीमुख धारण करते हो, अतः सन्ध्यासमय आपने भोग करने के लिये हमको कामदान किया है, इसलिये आपको भोग करना चाहिये ।

जिस काम का आप ने दान किया है वह काम आगन्तुक—आया हुआ है, इसलिये इसकी पूर्ति भोग करने से अतिरिक्त—आश्वासन आदि प्रकार से नहीं होगी, आप भोग करेंगे, तभी होगी ॥ १२ ॥

(सुबो०) तत उत्तमा अनन्यपूर्वावत्स्तनयोश्चरणधारणं प्रार्थयन्ति प्रणतेति ।

पूर्व १२ वें श्लोक में राजसतामसी अन्यपूर्वा गोपी ने प्रार्थना की है, अब इस १३ वें श्लोक में पूर्व गोपी से भी उत्तम अन्यपूर्वा राजसराजसी गोपी, अनन्यपूर्वा-कुमारिका ने जिस प्रकार सातवें 'प्रणतदेहिनाम्' इस श्लोक में स्तनों में चरण धरने की प्रार्थना की, उसी प्रकार यह राजसराजसी गोपीस्तनों में चरण धारण करने की प्रार्थना करती है ।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

पदपदार्थ—(हे रमण) हे रति करनेवाले (हे आधिहन्) हे मन की व्यथा को दूर करनेवाले पाठान्तर में (हे आर्तिहन) हे चिन्तानाश करनेवाले (प्रणतकामदं) अनन्य शरणागत जीव की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला (पद्मजार्चितं) ब्रह्माद्वारा अथवा लक्ष्मीद्वारा पूजित (धरणिमण्डनं) पृथिवी का अलङ्काररूप (आपदि) दुःख में (ध्येयम्) ध्यान करने योग्य (शन्तमं) अत्यन्त कल्याणरूप (ते) आपका (चरणपङ्कजं) चरणकमल (नः) हमारे (स्तनेषु) स्तनों के ऊपर (अर्पय) धारण करो ॥ १३ ॥

भाषार्थ—हे रमण, हे आधिहरण करनेवाले, अथवा दुःखनाश करनेवाले, अनन्य शरणागत जीव की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला, ब्रह्माद्वारा अथवा लक्ष्मीद्वारा पूजित, पृथिवी का अलङ्कार रूप, आपत्ति में ध्यान करने योग्य, अत्यन्त कल्याणरूप आप अपना चरण कमल हमारे स्तनोंपर धरो ॥ १३ ॥

(सुबो०) अत एव न पौनरुक्त्यम् । परं पूर्वापेक्षयात्र चरणमहात्म्यमधिकम् । गुणाधायकमेतत् । पूर्वं तु दोषनिवर्तकम् । हे रमण रतिकर्तः । नः स्तनेषु चरणपङ्कजमर्पय । प्रयोजनमाहुः अधिहन् इति । आर्तिहन् इति वा । अस्माहृदयतापः चिन्ता च निवारणीया । हृष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति । चरणभिर्हृदये स्थापितं न बहिः समायाति । अतस्त्वया बहिः स्थापनीयम् । प्रणतकामदपङ्कजस्यापि भगवत इव षड्गुणानाह । तत्र प्रथममैश्वर्यम् । प्रणतकामदमिति । प्रकर्षेण ये नता अनन्यशरणाः तेषां कामदमभिलषितार्थदातृ । ईश्वर

एव तथाविधो भवति। तत्रत्यः कामः स्तब्धैर्ग्रहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम्। पद्मजार्चितमिति। धर्मरूपता निरूपिता। ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति। कीर्तिरूपतामाह धरणिमण्डनमिति। धरण्या मण्डनमलङ्करणरूपं श्रीरूपं वा। आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा। पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः। शन्तमं कल्याणतमम्। ज्ञानरूपम्। आर्तिहन्निति सम्बोधनात् ते चरणपङ्कजमिति सम्बन्धनिरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च। रमणेतीष्टप्रापकः। आर्तिहन्नित्यनिष्टनिवारकः। अथवा। यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति, तदस्मास्वेकमेव करोत्विति प्रार्थ्यते। प्रणतासु कामं ददाति। तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसी'ति। प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति खण्डयति। पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम्। ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम्। तत्तुल्यं वा। अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः। धरण्यपि श्री अनलंकृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम्। भगवदपेक्षयापि चरणो महान्। आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति। यथैतेषां सर्वोपकारकर्तृ, तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना। अनेन सर्वं एव द्युरतबन्धा आक्षिप्ताः ॥ १३ ॥

'प्रणतदेहिनां' इस सातवें श्लोक की कहनेवाली अनन्यपूर्वा कुमारिका है, और 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक की कहनेवाली अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा है, इसलिये कहने वालियों का भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा यहां भगवान के चरण का माहात्म्य अधिक कहा है, और यहाँ जो चरणकमल का वर्णन किया है वह भक्तों को गुणाधायक—कामादि देनेवाला कहा है। पहिले ७ वें श्लोक में जो चरण माहात्म्य कहा है, वह तो केवल दोषनाश करनेवाला कहा है, इसलिये यहाँ चरण का अधिक माहात्म्य वर्णन किया है। हे रमण, रति करनेवाले हमारे स्तनों के ऊपर आप अपना चरण पङ्कज धरो।

स्तनों के ऊपर चरणकमल धरने का गोपियां कारण बताती हैं कि 'हे आधिहन्' हे मन की व्यथा को हरण करनेवाले अथवा पाठान्तर में 'हे आर्तिहन' हे दुःखहरण करनेवाले अर्थात् हृदयताप और चिन्ता आपको निवारण करनी चाहिये।

अब गोपियां 'पङ्कज' पद का तात्पर्य कहती हैं।

जिस प्रकार कमल हृदय पर रखने से ही ताप दूर करता है, यह प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार दृष्टोपकार से-देखेहुए उपकार से ही ताप दूर होगा।

यद्यपि आपका चरणकमल भीतर हृदय में हमने स्थापन किया है, किन्तु बाहर नहीं आता है, अतः आपको उसका बाहर स्थापन करना चाहिये।

अब आगे जिस प्रकार भगवान में छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान के चरणकमल में भी छै गुण हैं, इसका निरूपण गोपियां करती हैं।

उसमें प्रथम गुण ऐश्वर्य है, उसका वर्णन करती हैं (प्रणत कामदमिति) प्रकर्ष से जो नत—अनन्य शरण हैं, उसको (कामदं) अभिलषित अर्थ आपका चरण देनेवाला है।

अनन्य शरणागतों की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला ईश्वर ही होता है, इच्छित पदार्थ दान करने का सामर्थ्य अन्य में नहीं होता है, ईश्वर के मन में देने की योग्यता से उपस्थित काम को स्तब्ध-ढीठ जो भगवान की शरण में नहीं आये, वे जीव ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यहां प्रणतत्व कहा है, जिन जीवों को इच्छित पदार्थ लेना हो, उन जीवों को स्तब्धता छोड़कर अनन्य भाव से भगवान की शरण में आने की आवश्यकता होती है।

(पद्मजार्चितं) भगवान के चरण ब्रह्मा से पूजित हैं, उक्त विशेषण से भगवान के चरण को धर्म रूपता निरूपण की है, कारण कि ब्रह्मा धर्म बुद्धि से ही भगवान के चरण का पूजन करता है, गोपियों की तरह स्नेह से पूजन नहीं करता है, यह भाव है।

ब्रह्मा भगवान के चरणका पूजन करता है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं, कि ब्रह्मा की प्रार्थना से ही भगवान यहां पधारे हैं। अब गोपियां भगवान के चरणों को कीर्तिरूपता बतलाती हैं।

'धरणिमण्डनम्' भगवान् का चरण पृथिवी का अलङ्कार-भूषणरूप है। अथवा श्रीरूप है।

'आपदिध्येयम्' भगवान् का चरण दुःख में ध्यान करने योग्य है, उक्त विशेषण से भगवान् के चरण को श्रीरूप अथवा कीर्त्तिरूप कहा है।

भगवान् का चरण कमलसदृश है. इसलिये स्वरूप से उत्कर्ष कहती हैं 'शन्तमं' अत्यन्त कल्याणरूप है। इससे चरण को ज्ञानरूप कहा है।

'आर्तिहन्' इस संबोधन से, तथा 'ते चरणपङ्कजं' इससे सम्बन्ध निरूपण करने से चरणकमल को वैराग्ययुक्त निरूपण किया है। 'रमण' इस संबोधन से इष्ट वस्तु का देनेवाला कहा है, और 'आर्तिहन्' इससे अनिष्ट निवारण करनेवाला कहा है।

उक्त विशेषणों का स्पष्टीकरण योजना में इस प्रकार है, 'धरणिमण्डनम्' इसमें चरणको कीर्तिरूप अथवा श्रीरूप कहा है, 'आपदिध्येयं' इसमें श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है, अतः यदि 'धरणि मण्डनं' इससे श्री का ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे कीर्ति का ग्रहण करना चाहिये, और जो यदि प्रथम से कीर्तिका ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे श्री का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से दोनों धर्म ग्रहण करने चाहिये।

'शंतमं' इस विशेषण से ज्ञानरूपता कही है।

'आर्तिहन्' इससे वैराग्य कहा है।

'चरणपङ्कजं' इस विशेष्य के निर्देश से चरण को पङ्कज कहा है, इस प्रकार कहने से स्वरूपधर्मि का उत्कर्ष कहा है।

अथवा आपका चरणारविन्द लोक में पांच प्रकार का उपकार करता है, (१) लौकिक काम का खण्डन (२) ऐश्वर्य का दान करना।

(३) अनन्य शरणागतों को अभिलषित अर्थ का दान करना।

(४) अलङ्करण—शोभा देनेवाला।

(५) आपत्ति—दुःख को दूर करनेवाला, इस प्रकार पांच उपकारों में से आपका चरण हमारा ताप निवारणात्मक एक ही उपकार करे। अर्थात् आप हमारे हृदय का ताप दूर करने के लिये चरण कमल धरो। इस प्रकार गोपी प्रार्थना करती है।

दूसरे पक्ष में गोपी इस श्लोक में ताप-निवारण की ही प्रार्थना करती है, अपने अभिलषित अर्थ दान की प्रार्थना नहीं करती है, इसमें हेतु कहती है कि जो प्रणत है, अनन्य भाव से

एव तथाविधो भवति। तत्रत्यः कामः स्तब्धैर्ग्रहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम्। पद्मजार्चितमिति। धर्मरूपता निरूपिता। ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति। कीर्तिरूपतामाह धरणिमण्डनमिति। धरण्या मण्डनमलङ्करणरूपं श्रीरूपं वा। आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा। पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः। शन्तमं कल्याणतमम्। ज्ञानरूपम्। आर्तिहन्निति सम्बोधनात् ते चरणपङ्कजमिति सम्बन्धनिरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च। रमणेतीष्टप्रापकः। आर्तिहन्नित्यनिष्टनिवारकः। अथवा। यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति, तदस्मास्वेकमेव करोत्विति प्रार्थ्यते। प्रणतासु कामं ददाति। तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसी'ति। प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति खण्डयति। पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम्। ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम्। तत्तुल्यं वा। अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः। धरण्यपि श्री अनलंकृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम्। भगवदपेक्षयापि चरणो महान्। आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति। यथैतेषां सर्वोपकारकर्तृ, तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना। अनेन सर्व एव सुरतबन्धा आक्षिप्ताः ॥ १३ ॥

'प्रणतदेहिनां' इस सातवें श्लोक की कहनेवाली अनन्यपूर्वा कुमारिका है, और 'प्रणतकामदं' इस १३ वें श्लोक की कहनेवाली अन्यपूर्वा-श्रुतिरूपा है, इसलिये कहने वालियों का भेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा यहां भगवान के चरण का माहात्म्य अधिक कहा है, और यहाँ जो चरणकमल का वर्णन किया है वह भक्तों को गुणाधायक—कामादि देनेवाला कहा है। पहिले ७ वें श्लोक में जो चरण माहात्म्य कहा है, वह तो केवल दोषनाश करनेवाला कहा है, इसलिये यहाँ चरण का अधिक माहात्म्य वर्णन किया है। हे रमण, रति करनेवाले हमारे स्तनों के ऊपर आप अपना चरण पङ्कज धरो।

स्तनों के ऊपर चरणकमल धरने का गोपियां कारण बताती हैं कि 'हे आधिहन्,' हे मन की व्यथा को हरण करनेवाले अथवा पाठान्तर में 'हे आर्तिहन' हे दुःखहरण करनेवाले अर्थात् हृदयताप और चिन्ता आपको निवारण करनी चाहिये।

अब गोपियां 'पङ्कज' पद का तात्पर्य कहती हैं।

जिस प्रकार कमल हृदय पर रखने से ही ताप दूर करता है, यह प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार दृष्टोपकार से-देखेहुए उपकार से ही ताप दूर होगा।

यद्यपि आपका चरणकमल भीतर हृदय में हमने स्थापन किया है, किन्तु बाहर नहीं आता है, अतः आपको उसका बाहर स्थापन करना चाहिये।

अब आगे जिस प्रकार भगवान में छै गुण हैं, उसी प्रकार भगवान के चरणकमल में भी छै गुण हैं, इसका निरूपण गोपियां करती हैं।

उसमें प्रथम गुण ऐश्वर्य है, उसका वर्णन करती हैं (प्रणत कामदमिति) प्रकर्ष से जो नत—अनन्य शरण हैं, उसको (कामदं) अभिलषित अर्थ आपका चरण देनेवाला है।

अनन्य शरणागतों की अभिलाषा पूर्ण करनेवाला ईश्वर ही होता है, इच्छित पदार्थ दान करने का सामर्थ्य अन्य में नहीं होता है, ईश्वर के मन में देने की योग्यता से उपस्थित काम को स्तब्ध-ढीठ जो भगवान की शरण में नहीं आये, वे जीव ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यहां प्रणतत्व कहा है, जिन जीवों को इच्छित पदार्थ लेना हो, उन जीवों को स्तब्धता छोड़कर अनन्य भाव से भगवान की शरण में आने की आवश्यकता होती है।

(पद्मजार्चितं) भगवान के चरण ब्रह्मा से पूजित हैं, उक्त विशेषण से भगवान के चरण को धर्म रूपता निरूपण की है, कारण कि ब्रह्मा धर्म बुद्धि से ही भगवान के चरण का पूजन करता है, गोपियों की तरह स्नेह से पूजन नहीं करता है, यह भाव है।

ब्रह्मा भगवान के चरण का पूजन करता है, इसमें गोपियां हेतु कहती हैं, कि ब्रह्मा की प्रार्थना से ही भगवान यहां पधारे हैं। अब गोपियां भगवान के चरणों को कीर्तिरूपता बतलाती हैं।

'धरणिमण्डनम्' भगवान् का चरण पृथिवी का अलङ्कार-भूषणरूप है। अथवा श्रीरूप है।

'आपदिध्येयम्' भगवान् का चरण दुःख में ध्यान करने योग्य है, उक्त विशेषण से भगवान् के चरण को श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है।

भगवान् का चरण कमलसदृश है, इसलिये स्वरूप से उत्कर्ष कहती हैं 'शन्तमं' अत्यन्त कल्याणरूप है। इससे चरण को ज्ञानरूप कहा है।

'आर्तिहन्' इस संबोधन से, तथा 'ते चरणपङ्कजं' इससे सम्बन्ध निरूपण करने से चरणकमल को वैराग्ययुक्त निरूपण किया है। 'रमण' इस संबोधन से इष्ट वस्तु का देनेवाला कहा है, और 'आर्तिहन्' इससे अनिष्ट निवारण करनेवाला कहा है।

उक्त विशेषणों का स्पष्टीकरण योजना में इस प्रकार है, 'धरणिमण्डनम्' इसमें चरण को कीर्तिरूप अथवा श्रीरूप कहा है, 'आपदिध्येयं' इसमें श्रीरूप अथवा कीर्तिरूप कहा है, अतः यदि 'धरणि मण्डनं' इससे श्री का ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे कीर्ति का ग्रहण करना चाहिये, और जो यदि प्रथम से कीर्तिका ग्रहण करते हो तो 'ध्येयमापदि' इससे श्री का ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार दो विशेषणों से दोनों धर्म ग्रहण करने चाहिये।

'शंतमं' इस विशेषण से ज्ञानरूपता कही है।

'आर्तिहन्' इससे वैराग्य कहा है।

'चरणपङ्कजं' इस विशेष्य के निर्देश से चरण को पङ्कज कहा है, इस प्रकार कहने से स्वरूपधर्मि का उत्कर्ष कहा है।

अथवा आपका चरणारविन्द लोक में पांच प्रकार का उपकार करता है, (१) लौकिक काम का खण्डन (२) ऐश्वर्य का दान करना।

(३) अनन्य शरणागतों को अभिलषित अर्थ का दान करना।

(४) अलङ्करण—शोभा देनेवाला।

(५) आपत्ति—दुःख को दूर करनेवाला, इस प्रकार पांच उपकारों में से आपका चरण हमारा ताप निवारणात्मक एक ही उपकार करे। अर्थात् आप हमारे हृदय का ताप दूर करने के लिये चरण कमल धरो। इस प्रकार गोपी प्रार्थना करती है।

दूसरे पक्ष में गोपी इस श्लोक में ताप-निवारण की ही प्रार्थना करती है, अपने अभिलषित अर्थ दान की प्रार्थना नहीं करती है, इसमें हेतु कहती है कि जो प्रणत है, अनन्य भाव से

भगवान् की शरण जाता है, उसको भगवान् का श्रीमुख काम का दान करता है, यह बात पहिले १२ वें श्लोक में कही है, 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।

अतः पूर्व श्लोक में ही भोग की प्रार्थना सिद्ध ही है, इसलिये इस श्लोक में अन्य प्रकार का अर्थ किया है ।

आपका चरण प्रणत—अत्यन्त नम्र भक्तों के काम का खंडन करता है । प्रथम पक्ष में भगवान् का चरण कामदान करनेवाला कहा है, और द्वितीय पक्ष में काम का खण्डन करनेवाला कहा है ।

उक्त अर्थ में मूल श्लोक का अन्वय आगे कहे अनुसार जानना चाहिये ।

श्लोक के पूर्वार्ध में 'प्रणतकामदं' 'पद्मजार्चितं' 'धरणिमण्डनं' 'आपदि ध्येयम्' इस प्रकार चार विशेषण कहकर पांच उपकार करनेवाला 'चरणपङ्कजं' चरणकमल हमारे स्तनों में 'शंतमं' ताप-निवारण करने के लिये 'अर्पय' धरो । इस प्रकार अन्वयार्थ है ।

अब दूसरा विशेषण 'पद्मजार्चितं' इसका दूसरे प्रकार से अर्थ कहते हैं, 'पद्मजेन' ब्रह्मा से अथवा 'पद्मजया' लक्ष्मी से आपका चरण पूजित है, ब्रह्मा ने ऐश्वर्य के लिये और लक्ष्मी ने काम के लिये भगवान् के चरण का पूजन किया है ।

अथवा 'पद्मज' शब्द का अर्थ नख है, भगवान् के चरण कमल में उत्पन्न हुए पद्मज—नख, इन नखों से भगवान् का चरण कमल अर्चित है, लोक में नख चरण के साथ लगे हुए हैं, इसलिये नखों को संयोगिद्रव्य कहते हैं, अतः लोक में पद के साथ नख का सम्बन्ध अनित्य है, इसलिये नख पद से पृथक् हो जाता है, किन्तु भगवान् के नख सच्चिदानंद रूप हैं, इसलिये स्वरूपात्मक नित्य हैं, इसलिये भगवान् के नखों को संयोगि द्रव्य नहीं कह सकते हैं ।

यद्यपि भगवान् के नख अनित्य नहीं हैं, भगवान् के चरण से पृथक् नहीं होते हैं, तथापि इस श्लोक में कहनेवाली गोपी को भगवान् के चरणकमल का सम्बन्ध प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आर्त्ति हुई है, जिसके कारण यह गोपी इस प्रकार मानती है कि जो वस्तु भगवच्चरण संबंधी है, वही वस्तु मुझको भगवान् के चरणकमल का सम्बन्ध प्राप्त कराने में पूर्ण साधन है, इसी आशय से कहा है कि 'पद्मजैरर्चितम्' भगवान् का चरण नखों से पूजित है ।

अब उक्त पक्ष में गोपी युक्ति कहती है कि 'अन्यथा' ।

यदि इस प्रकार नहीं मानें तो ये सब नख भगवान् के चरणकमल में जन्म कैसे पाते ?

पूर्व में कहा है कि भगवान् के नख स्वरूपात्मक नित्य हैं, फिर इनका जन्म होना युक्तियुक्त नहीं होता है, अतः इस प्रकार की अरुचि से गोपी पक्षान्त कहती है कि 'तत्तुल्यंवा' भगवान् के चरण कमल के नख तुल्य हैं, अनुरूप हैं अर्थात् नखों से चरण कमल की अत्यन्त शोभा है, इसलिये नखों से भगवान् का चरणकमल पूजित सा हो रहा है ।

भगवान् के चरणकमल में ध्वजा आदि के चिह्न भी इसी प्रकार के हैं, अर्थात् ध्वजा आदि चिह्न भी भगवान् के चरणकमल का संबंध कराने में पूर्ण साधन हैं, इसलिये भगवान् का चरणकमल ध्वजा आदि चिह्नों से चर्चित है ।

पृथिवी भी स्त्री अनलंकृत—बिना आभूषण के भोग नहीं की जाती है, अतः पृथिवी में भगवान् ने अपना चरण स्थापन करके उसको अलंकृत किया है, भगवान् की अपेक्षा भी भगवान् का चरण महान् है, आपत्ति में ध्यान करने मात्र से ही भगवान् का चरण दुःख दूर करता है, जिस प्रकार 'प्रणतादि' विशेषणों से कहा, सर्व का उपकार आप करते हो, उसी प्रकार हमारा भी ताप निवारणात्मक उपकार करो । यही हमारी प्रार्थना है ।

गोपियों ने उक्त प्रार्थना से सर्व सुरत सम्बंधी बंधों का आक्षेप किया है, अर्थात् 'प्रणत कामदं' इस पद से बाह्यसुरतबन्ध, 'पद्मजार्चितं' इस पद में पद्मज से विपरीत बंध का 'पद्मजा से' तिर्यक् बंध का, धरणिमण्डनं' पद से समबंध का, 'ध्येयं' इस पद से आन्तर बंध का, इस प्रकार सुरत बंध के पांच प्रकारों का आक्षेप किया है ॥ १३ ॥

(सुबो०) तदनन्तरं तत उत्तमाः प्रार्थयन्ते सुरतेति ।

अब पूर्वोक्त राजस राजसी गोपियों से उत्तम राजस सात्विकी अन्यपूर्वा गोपियां प्रार्थना करती हैं ॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—(हे वीर) हे शूर (सुरतवर्धनं) सुरत बढ़ानेवाला (शोकनाशनं) शोक नाश करनेवाला (स्वरितवेणुना) स्वरयुक्त वेणु से (सुष्ठु) अच्छे प्रकार से (चुम्बितम्) चुम्बन किया (इतररागविस्मारणम्) अन्य राग भुलानेवाला (ते) आपको (अधरामृतं) अधरामृत को (नः) हम सब (नृणां) अधिकारियों को अथवा अनधिकारियों को अथवा दुर्लभ पुरुषार्थों को (वितर) दान करो ॥ १४ ॥

भाषार्थ—हे वीर सुरत बढ़ानेवाला, शोकनाश करनेवाला, और स्वरयुक्त वेणुद्वारा अच्छे प्रकार से चुम्बन किया, इतर राग भुलानेवाला इस प्रकार के अधरामृत का आप हम सब अधिकारियों अथवा अनधिकारियों को दान करो ॥ १४ ॥

(सुबो०) अधरामृतं वितरेति । अत्राप्यधरामृतं गुणाधायकम् । एतस्य चतुर्गुणत्वमेव विवक्षितम् । ज्ञानवैराग्ययोरत्रानुपयोगात् । तस्यैश्वर्यमाह सुरतवर्धनमिति । गोपिकासु परिच्छिन्नः कामः अपरिच्छिन्नेन सह संयोगे क्लिष्टो भवति । यथा रसाः क्षुदुद्बोधका भवन्ति, तथायं रसः कामोद्बोधकः । किञ्च, न केवलमयं काममेव पोषयति, किन्तु सर्वानिवान्तःकरणदोषान्निवारयति । अतः शोकनाशकत्वं ज्ञानवैराग्यरूपता च निरूपिता । ऐश्वर्यधर्मरूपता च । यशोरूपतामाह । स्वरितो नादयुक्तो यो वेणुः, तेन सुष्ठु चुम्बितमिति । यशो हि नादज्ञैः कीर्त्यते । वेणुश्च परमभक्त इति तेनापि चुम्बितमेव । न तु पीतम् । इतररागविस्मारणमिति श्रियो रूपम् । साहि सर्वं विस्मारयतीति । स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्रमेयबलमुक्तम् । पूर्वेण प्रमाणबलम् । शोकनाशनमिति फलबलम् । सुरतवर्धनमिति साधनबलम् । एवं चतुर्विधपुरुषार्थप्रदं स्वतः पुरुषार्थरूपम् । नृणामस्माकमधिकारिणां दुर्लभपुरुषार्थानां वा । यद्यपीदं देयं न भवति, तथापि वितरणगुणेन दातुं शक्यत इति वितरेत्युक्तम् । वीरेति सम्बोधनात् शौर्यं नान्यथा संभवतीति निरूपितम् ॥ १४ ॥